आचार्य अजितसेनकृत-अलङ्कारचिन्तामणि का आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोधप्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

कु० अर्चना पाण्डेय
एम० ए० (संस्कृत-साहित्य)

निर्देशक
डॉ० चन्द्र भूषण मिश्र
प्रोफेसर (संस्कृत-विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
१९९८

अनुक्रमणिका

अध्याय - 1 कवि का ऐतिहासिक परिचय, ग्रन्थकार का समय, स्थान, वंश व्यक्तित्व एवं कृतित्व

अध्याय - 2 कवि शिक्षा निरूपण

अध्याय - 3 चित्रालङ्कार निरूपण

अध्याय - 4 शब्दालङ्कारों का विवेचन

अध्याय - 5 अलङ्कारों का वर्गीकरण तथा अर्थालङ्कारों का समीक्षात्मक विवेचन

अध्याय - 6 काव्य रस, दोष तथा गुणादि निरूपण

अध्याय - 7 नायक नायिकादि विमर्श

उपसंहार -

भूमिका

अलंकार शास्त्र का प्रारम्भ कब से हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता तथापि जूनागढ़ (150 ईस्वी) में उपलब्ध रुद्रदामन नामक शिलालेख से यह स्पष्ट है कि द्वितीय शताब्दी अथवा इसके पूर्व गद्य और पद्य रूप मे संस्कृत वाड्.मय का उदय हो चुका था और उस समय में काव्य रचनाएँ अलंकृत और गुणों से युक्त होती थी क्योंकि रुद्रदामन के शिलालेख में स्फुट, मधुर कान्त, उदार गुणों का उल्लेख है जो काव्यादर्श के प्रसाद, माधुर्य कान्ति एवं उदारता गुणों से तुलनीय है ।[1] इसके अतिरिक्त राजशेखर की काव्य-मीमांसा के एक उद्धरण से यह अवगत होता है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने शिव को अलंकार शास्त्र का ज्ञान कराया था, तत्पश्चात् शिव ने दूसरों को इसकी शिक्षा दी । पुनः किस प्रकार से 18 (अठारह) अधिकरणों में इसे विभाजित किया गया तथा प्रत्येक अधिकरण की शिक्षा किन-किन आचार्यों ने दी इसका उल्लेख काव्य मीमांसा में अविकल रूप से किया गया है ।[2] इन आचार्यों में कतिपय आचार्य वात्स्यायन के कामशास्त्र में भी वर्णित हैं । सुवर्णनाम और कुचुमार कामशास्त्र में उपजीव्य आचार्यों के रूप में उल्लिखित किए गये हैं[3]।

---

1. सर्वक्षत्राविस्कृतवीरशब्द जातोत्सेकविधेयानां योधेयानां प्रसह्योत्सादकेन..... .....शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां........महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना (1 पृ0 44) । काव्यशास्त्र का इतिहास, पी0वी0 काणे, पृ0
2. का0मी0 , प्रथम अध्याय, पृ0 ।
3. का0 सू0, 1/1/13-16

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में भी ऐसे अनेक स्थल प्राप्त होते है जहाँ अलंकार के लिए 'अलंकृत' या 'अलंकृति' पदों का उल्लेख प्राप्त होता हैं ।[1]

शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से 'अलंकार' पद का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2]

वैदों में अलंकार तत्त्व :-

आलंकारिक तत्त्वों की उपलब्धि वैदिक ऋचाओं में दर्शनीय है । उषा विषयक ऋचा में चार उपमाएँ एक साथ दी गयी हैं ।[3]

निरूक्त में उपमा - निरूक्तकार यास्क ने पांच प्रकार की उपमाओ का उल्लेख किया है । उपमा द्योतक निपात् इव, यथा, चित्, न, उ और आ है । इन वाचक पदों के प्रयोग में यास्क के अनुसार कर्मोपमा होती हैं ।[4]

---

1. (क) वायवायाहि दर्शतेमेसोमा अरंकृता । ऋग्वेद 1,2,1

   (ख) अस्यरंकृतिः सूक्तेः । वही, 7, 29, 3

   (ग) तवमग्ने द्रविणोदा अरंकृते । वही, 2, 1, 7

2. आ जनाम्य जनेप्रयच्छन्त्येषा हमानुषो लंकारस्तेनैव तं मृत्युमन्तर्दधते शतपथब्रा० का0, 13/8/7, पृ0 1792

3. ऋग्वेद, 1/124/6

4. (क) निरुक्त 3/15

   (ख) वही 3/13

गार्ग्य निरूक्तकार यास्क से भी प्राचीन माने जाते हैं । इनके अनुसार उपमा वहाँ होती हे जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उसी के सदृश हो ।[1]

सांख्यसूत्र में तो उपमाओं का प्रयोग आख्यायिकों के सन्दर्भ में बहुलता से हुआ है ।[2]

पाणिनि और उपमा :- पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपमा, उपमान, उपमिति तथा समान्य शब्दों का प्रयोग भी है जो अलंकारशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं ।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों से विदित होता है कि अलंकार, रस, गुण आदि सम्पूर्ण काव्य तत्त्वों की उपलब्धि वाङ्मय मे होती रही किन्तु इस प्रकार का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता था जिसमें इन तत्त्वों का निरूपण हुआ हो, अतः इस परिस्थिति में भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ही आदि उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ है और उन्हें ही काव्य शास्त्र के आद्य आचार्य के रूप में स्वीकार करना समीचीन प्रतीत होता है । आचार्य भरत के पश्चात् भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रूद्रट, आनन्द वर्धन कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोज, मम्मट, रूय्यक शोभाकर मिश्र, वाग्भट, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, पण्डित राज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पर्वतीय तक अर्थात् ईसा पूर्व 200 से 18 वीं शती तक अविकल रूप से काव्य शास्त्रीय लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता रहा । ऐसे ही आचार्यों में आचार्य अजितसेन अनन्यतम आचार्य थे जिन्होंने अलंकार चिन्तामणि में काव्यशास्त्रीय सम्पूर्ण तत्त्वों का सोदाहरण निरूपण किया सर्वाङ्गीण काव्यशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन होने के कारण इस पर अनुसन्धान करने की मेरी अभिरूचि उत्पन्न हुई । अतः मैने शोध प्रबन्ध को 8 अध्यायों में विभक्त कर अनुसन्धान कार्य को प्रारम्भ किया । प्रथम अध्याय में कवि का ऐतिहासिक परिचय, द्वितीय में कवि शिक्षा निरूपण, तृतीय में चित्रालंकार, चतुर्थ में शब्दालंकार, पंचम में अलंकारों का वर्गीकरण तथा उनकी समीक्षा की गयी है ।

अध्याय छः मे रस, दोष तथा गुण का निरूपण किया गया है । सातवें अध्याय में नायकादि के स्वरूप का विवेचन किया गया है आठवां अध्याय उपसंहार के रूप में है ।

ग्रन्थ के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इनके ग्रन्थ पर आचार्य भामह, दण्डी, भोज, मम्मट तथा वाग्भट का प्रभाव हैं । कतिपय दोषों पर भामह का स्पष्ट प्रभाव है । उपमा निरूपण के सन्दर्भ में दण्डी द्वारा निरूपित उपमा भेदों का अजितसेन ने क्रम से निरूपण किया है । दोष निरूपण के प्रसंग मे मम्मट का स्पष्ट प्रभाव है । परवर्ती काल में आचार्य विद्यानाथ अजितसेन से अधिक प्रभावित दिखाई देते हैं । अनुसन्धान करते समय अनुसन्धात्री की मौलिक प्रवृत्ति का प्राधान्य रहे - ऐसा ध्यान दिया गया है ।

अनुसन्धान क्षेत्र में जिन गुरूजनों ने अपना योगदान दिया । उनके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ । सर्वप्रथम मैं अपने पिता **श्री शिवश्याम पाण्डेय** (प्रधानाचार्य, ऋषिकुल उच्चतर माध्यमिक विद्यालय इलाहाबाद) एवं माता **श्रीमती रन्नो देवी पाण्डेय** (अध्यापिका, विद्यावती दरबारी बालिका इण्टर कालेज) के प्रति आजीवन ऋणी हूँ, जिनके अपार स्नेहिल प्रेम के फलस्वरूप ही यह अनुसन्धान कार्य सम्पन्न हो सका ।

शोधकार्य में प्रवृत्त होने पर मैं अपने श्रद्धेय गुरू **डा0 चन्द्रभूषण मिश्र** (प्रोफेसर इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनसे मुझे समय-समय पर अपेक्षित सहायता एवं प्रेरणा मिली ।

इसके अतिरिक्त अपने गुरूजन **डा0 राजेन्द्र मिश्र** (प्रो0 एवं अध्यक्ष-शिमला विश्वविद्यालय) **डा0 हरिशंकर त्रिपाठी, डॉ0 रामकिशोर शास्त्री, डॉ0 कौशल किशोर श्रीवास्तव, डा0 शंकरदयाल द्विवेदी, डा0 राजलक्ष्मी वर्मा, डॉ0 मृदुला त्रिपाठी, डॉ0 ज्ञानदेवी श्रीवास्तव** (प्रो0 एवं अध्यक्ष) डॉ0 सुरेशचन्द्र पाण्डेय (भू0पू0 प्रो0 एवं अध्यक्ष) डॉ0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव (भू0पू0 प्रो0 एवं अध्यक्ष) डा0 नसरीन, डा0 मंजुला वर्मा, डॉ0 हरिदत्त शर्मा, डॉ0 वीरेन्द्र कुमार सिंह (सभी इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के सुझाव, निर्देशन और सहायता के लिए उनके प्रति मैं श्रद्धावनत तथा कृतज्ञ हूँ ।

डॉ बलभद्र त्रिपाठी (निदेशक-संस्कृत शोध संस्थान फैजाबाद) के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ जो अनुसन्धात्री को सदा प्रोत्साहन एवं सत्प्रेरणाएँ देते रहें । कविराज डॉ0 जनार्दन प्रसाद पाण्डेय (साहित्य-विभागाध्यक्ष-बी0एन0 मेहता संस्कृत महाविद्यालय प्रतापगढ़) से विषय की विलष्टता को दूर करने एवं शोधप्रबन्ध की सम्पन्नता में जो सहायता मिली वह अविस्मरणीय है ।

डॉ0 सोम प्रकाश पाण्डेय (रीडर-मुनीश्वरदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय प्रतापगढ़) के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिनसे मुझे प्रोत्साहन एवं अपेक्षित सहयोग मिलता रहा ।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने में जिन विद्वानों एवं सहृदय काव्यमर्मज्ञों का सहयोग रहा उनके प्रति भी मैं अपना आभार प्रदर्शित करती हूँ ।

अध्याय - 1

कवि का ऐतिहासिक परिचय

ग्रन्थकार का समय, स्थान, वंश व्यक्तित्व एवं कृतित्व

भारतीय संस्कृत वाङ्मय के अनेक लेखक जिसमें विशेष रूप से प्रारम्भिक काल के लेखक इतने निःस्पृह एवं गर्व शून्य रहे हैं कि उच्चकोटि के ग्रन्थ निर्माण करने पर भी अपने जीवन वृत्त के विषय में कहीं भी कुछ नहीं लिखा । अपनी प्रसिद्धि के विषय में तो उन्होंने कभी सोचा ही नहीं । इसी कारण अनेक संस्कृत लेखकों का साहित्य में स्थान निर्धारण करने के लिए इतिहासकारों को निश्चित प्रमाणों के अभाव में विविध उपायों का आश्रय लेना पड़ता है । इन उपायों को स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है ।

(1) किसी एक कवि के समग्र ग्रन्थों में उपलब्ध परिस्थितियों एवं लेखों का आधार । जिसे अन्तर्साक्ष्यों का भी आधार कहा जा सकता है ।

(2) दूसरे अनेक ग्रन्थों के उल्लेखों, शिलालेखों एवं उद्धरणों का आधार जिसे वाह्य साक्ष्यों का आधार कहा जा सकता है ।

किसी कवि या ग्रन्थकार के जीवन-काल को निर्धारित करने के लिए दोनों ही प्रकार के उपायों का आश्रय लिया जा सकता है । कोई भी कवि या ग्रन्थकार अपने समय की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा अन्य परिस्थितियों से पृथक् नहीं रह सकता । यदि कोई कवि न चाहे तो समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य आदि तत्त्व उसके ग्रन्थों में अदृश्य रूप से समाहित हो जाते हैं । और जो कवि अपने चारों ओर के वातावरण पर अपनी दृष्टि अच्छी तरह डालकर ही अपने ग्रन्थों

की रचना करें उसके विषय में कहना कि क्या । इसीलिए किसी विशेष लेखक या कवि के ग्रन्थों में तत्कालीन परिस्थितियों एवं उल्लेखों का अनुसन्धान उस लेखक के समय निर्धारण करने में विशेष सहायक होता है ।

संस्कृत के महान साहित्यकार आचार्य अजित सेन का समय निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है तथापि इतिहासकारों तथा अन्य तर्कों के माध्यम से इस सन्दर्भ में विचार किया जा रहा है ।

आचार्य अजित सेन ने काव्य स्वरूप के निर्धारण में आचार्य वामन द्वारा स्वीकृत रीति तथा आनन्द वर्धन द्वारा निरूपित व्यंग्यार्थ का भी उल्लेख किया है ।[1]

आचार्य वामन जयापीड के सचिव थे । इनका समय 750 ई0 से 850 ई0 स्वीकार किया गया है ।[2]

आचार्य आनन्द वर्धन कशमीर नरेश अवन्तिवर्मा के सम-सामयिक थे ।[3] अवन्ति वर्मा का समय 855 ई0 से 884 ई0 तक माना जाता है अतः आनन्द वर्धन का समय नवम् शताब्दी का मध्य अथवा उत्तरार्द्ध स्वीकार किया जाता है ।[4]

---

1. शब्दार्थालंकृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामम् ।
   व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढयम् ।। अ0चि0 1/7 पूर्वार्द्ध
2. अलंकारशास्त्र परम्परा पृ0 - 41
3. (क) मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
   प्रथमरत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽअवन्तिवर्मनः ।। राजतरंगिणी 2/4
4. अलंकारशास्त्र परम्परा पृ0 - 65

इसके अतिरिक्त आचार्य अजित सेन ने वाग्भट प्रणीत वाग्भटालंकार से कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है जो अक्षरशः अनुकृत हैं जिसका विवरण इस प्रकार है -

संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम् ।
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ।। वाग्भटालंकार परि० 2/1

संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता ।
प्राकृतं तज्जतत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा ।। वाग्भटालंकार परि० 2/2

अपभ्रंशस्तु यच्छुदं तत्तद्देशेषु भाषितम् ।
यद्भूतैरुच्यतेकिञ्चित्तद्भौतिकमितिस्मृतम् ।। वही परि० 2/3

'श्रीवेंकटेश्वर' स्टीम्-यन्त्रालय में उक्त श्लोक अलंकार चिन्तामणि के द्वितीय परिच्छेद में भी क्रमशः उद्धृत हैं ।[1]

श्री प्रभा चन्द्रमुनि रचित 'प्रभावक चरित' में वाग्भट्ट के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है जहाँ यह बताया गया है कि 'वाहड (वाग्भट्ट) एक धनवान तथा धार्मिक व्यक्ति थे । उन्होंने अपने गुरु से जैन मन्दिर के निर्माणार्थ निवेदन किया और कहा कि आप मुझे जिनालय के निर्माण की अनुमति प्रदान करें जिससे द्रव्य-व्यय सार्थक हो सके । इस प्रकार इन्होंने 1178 वि० सम्वत् में जिनालय का निर्माण कराया जिसका उल्लेख इस प्रकार है -

---

1. अ०चि० 2/119, 120, 121 तुलनीय वाग्भटालंकार 2/1, 2, 3

अथास्ति वाहडोनामधनवान् धार्मिकाग्रणीः । गुरपादन् प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापना मसो ।।

आदिश्यतामतिश्लाघ्यं कृत्यंयत्रधनंव्यये । प्रभुराहालये जैने द्रव्यस्य सफलो व्ययः ।।

आदेशानन्तर तेनाकार्यत श्रीजिनालयः । हेमाद्रिधवलस्तुङगोदीप्यत्कुम्भ महामणिः ।।

श्रीमता वर्धमानस्य वीभर-द्विम्वमुत्तमम् । यत्तेजसा जिताश्चन्द्र कान्तमणिप्रभाः ।।

शतैकादशके साष्टसप्ततौ विक्रमार्कतः । वत्सराणा व्यतिकान्ते श्रीमुनि चन्द्र सूरयः ।।

आराधनाविधिश्रीष्ठं कृत्वा प्रायोपवेशनम् । शमपीयूष कल्लोलप्तुतास्ते त्रिदिवंययुः ।।

वत्सरेतत्र चैकेन पूर्णेश्रीदेव सूरिभिः । श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स वाहडोऽकार यन्मुदा ।।[1]

इस प्रकार वाग्भट का समय 12वीं शती का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है ।

'प्रभावक चरित' की ये पंक्तियाँ भी वाग्भट के उपर्युक्त कार्यकाल की पुष्टि करती है -

अणहिल्लपुरं प्रापक्ष्मापः प्राप्तजयोदयः ।

महोत्सव प्रवेशस्य गजारूढः सुरेन्द्रवत् ।।

वाग्भटस्य विहारं स ददृशे दृग्रसायनम् ।

अन्यद्युर्वाग्भटामात्यं धर्मात्यन्ति कवासनेः ।।

अपृच्छतार्हताचारोपदेष्टारं गुरुं नृपः ।

श्रीमद्वाग्भटदेवाऽपि जीर्णोद्धारमकारयत्

शिखीन्दुरविवर्षे (1213) च ध्वजारोपं व्यधापयत् ।।[2]

---

1. वाग्भटालंकार, भूमिका, पृष्ठ-4, डॉ0 सत्यव्रत सिंह

2. वाग्भटालंकार, भूमिका, पृष्ठ-5, डॉ0 सत्यव्रत सिंह ।

इस प्रकार उक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि अमात्य प्रवर वाग्भट ने विक्रम संवत् 1213 (1157 ई0) में जैन विहार का जीर्णोद्धार किया और एक ध्वजस्तम्भ की स्थापना की । इससे यह सिद्ध होता है कि वाग्भट 1157 ई0 में विद्यमान थे ।

उक्त उद्धरण से यह सुनिश्चित हो जाता है कि आचार्य अजित सेन आचार्य वाग्भट के पश्चात् बारहवीं शताब्दी में रहे होंगे ।

इसके अतिरिक्त आचार्य विद्यानाथ के 'प्रतापरूद्रयशोभूषण' में निरूपित उपमा तथा रूपक अलंकार पर अजित सेन का सर्वाधिक प्रभाव परिलक्षित हो रहा है । आचार्य अजित सेन द्वारा निरूपित उपमा इस प्रकार है -

'वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वतः सिद्धेन धर्मतः ।
भिन्नेन सूर्यभीष्टेन वाच्यं यत्रोपमैकदा ।।'

स्वतो भिन्नेन स्वतः सिद्धेन विद्वत्संमतेन अप्रकृतेन सह प्रकृतस्य यत्र धर्मतः सादृश्यं सोपमा । स्वतः सिद्धेनेत्यनेनोत्प्रेक्षानिरासः ।। अप्रसिद्धस्याप्युत्प्रेक्षायामनुमानत्वघटनात्।। स्वतो भिन्नेनेत्यनेनानन्वयनिरासः । वस्तुन एकस्यैवानन्वये उपमानोपमेयत्वघटनात् । सूर्यभीष्टेनेत्यनेन हीनोपमादिनिरासः।

अ0चि0 4/18 तथावृत्ति

विद्यानाथ द्वारा निरूपित उपमा इस प्रकार है -

स्वतः सिद्धेन भिन्नेनसंमतेन च धर्मतः ।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ।।

यत्र स्वतः सिद्धेन स्वतो भिन्नेन सहृदयसंमतेनाप्रकृतेन स प्रकृतस्य धर्मतः-सादृश्यमेकदा वाच्यं चेद् भवति तत्रोपमा । स्वतः सिद्धेनेत्यनेनोत्प्रेक्षाव्यावृत्तिः । उत्प्रेक्षायामप्रसिद्धस्याप्युपमानत्वसंभवात् ।

प्रतापरुद्रीयम् - पृ0 414

अजित सेन द्वारा निरूपित रूपक का लक्षण-

अतिरोहितरूपस्य व्यारोपविषयस्य यत् ।
उपरञ्जकमारोप्यं रूपकं तदिहोच्यते ।।

मुखं चन्द्र इत्यादौ मुखमारोपस्य विषयः आरोप्यश्चन्द्रः अतिरोहितरूपस्येत्यनेन विषयस्य संदिह्यमानत्वेन तिरोहित रूपस्य, संदेहस्य, भ्रान्त्याविषयतिरोधानरूपस्य भ्रान्तिमतः अपह्नवेनारोपविषयतिरोधान रूपस्यापह्नवस्यापि च निराशः । व्यारोपविषयस्येत्यनेनोत्प्रेक्षादेरध्य-वसायगर्भस्योपमादीनामनारोपहेतुकानां व्यावृत्तिः ।। उपरञ्जकमित्येतेन परिणामालंकारनिरासः। तत्र प्रकृतोपयोगित्वेनारोप्यमाणस्यान्वयो न प्रकृतोपरञ्जकतया । विलक्षणमिदमितः सर्वेभ्यः सादृश्यमूलेभ्यः । तत्तु सावयवं निरवयवं परम्परितमिति त्रिधा । सावयवं पुनर्द्विधा समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति । निरवयवं च केवलं मालारूपं चेति द्विधा । परम्परितमपि श्लिष्टाश्लिष्टहेतुत्वेन द्विधा ।। तद्द्वयमपि केवलमालारूपत्वेन चतुर्विधमित्यष्टविधं रूपकम् । यत्र सामस्त्येनावयवानामवयविनश्च निरूपणं तत्समस्तवस्तुविषयम् ।

अ0चि0 4/104 तथावृत्ति

विद्याधर द्वारा निरूपित रूपक-

आरोपविषयस्य स्याददतिरोहितरूपिणः ।

उपरञ्जकमारोप्यमाणं तद्रूपकं मतम् ।।

अत्रारोपविषयस्येत्यनेन अध्यवसायगर्भस्य उत्प्रेक्षादेः अनारोप मूलानां चोपमादीनां व्यावृत्तिः। अतिरोहितरूपिण इत्यनेन संदेहभ्रान्तिमदपह्नुति प्रमुखाणां व्यावृत्तिः । संदेहालंकारे विषयस्य संदिह्यमानतया तिरोधानम् । भ्रान्तिमदलंकारे भ्रान्त्या विषयतिरोधानम् । अपह्नुत्यालंकारेऽपह्न वेनारोपविषयतिरोधानम् । उपरञ्जकमित्यनेन परिणामालङ्कारव्यावृत्तिः। परिणामे आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वेनान्वयो न प्रकृतोपरञ्जकत्वेन । अतः सादृश्यमूलेभ्यः सर्वेभ्यो विलक्षणं रूपकम् । तस्य प्रथमं त्रैविध्यम्-सावयवं

निवयवं परम्परितंचेति । सावयवं द्विविधम् - समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति । निरवयवं द्विविध - केवलं मालारूपं चेति । परम्परितस्यापि श्लिष्ट निबन्धनत्वेनाश्लिष्ट-निबन्धनत्वेन च द्वैविध्यम् । तयोरपि प्रत्येकं केवल मालारूपतया चातुर्विध्यम् । एवमष्टविधो रूपकालंकारः ।

प्रतापरुद्रीयम् पृ0 - 443-444

आचार्य विद्यानाथ ने प्रताप रुद्रदेव की प्रशस्ति में 'प्रतापरुद्रयशो भूषण' नामक काव्यशास्त्रीय लक्षणग्रन्थ का निर्माण किया । जिससे लक्ष्य के रूप में प्रतापरुद्रदेव के यश तथा प्रताप का वर्ण है । प्रताप रुद्रदेव ने यादव वंश (देवगिरि के रामदेव-1271 से 1309) के सेवंण को पराजित किया इस घटना से और अन्य शिलालेखों से यह पता चलता है कि प्रताप रुद्रदेव तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में और

चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में राज्य करते थे । मोहम्मद तुगलक की सेना ने 1323 ई0 में उन्हें बन्दी बना लिया इसलिए 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की रचना 14वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुई होगी ।[1] इससे सुनिश्चित हो जाता है कि आचार्य अजितसेन तेरहवीं शताब्दी के पूर्व विद्यमान थे । क्योंकि 13वीं शताब्दी के पश्चात् उनके समय का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता । जैसा कि पूर्व पृष्ठ पर यह उल्लेख किया गया है कि आचार्य विद्यानाथ ने अजितसेन कृत अलंकार चिन्तामणि से सर्वाधिक प्रभावित रहे हैं ।

उक्त समग्र उद्धरणों के परिशीलन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि आचार्य अजितसेन 1156 ई0 में विद्यमान वाग्भट द्वारा प्रणीत "वाग्भटालंकार' से श्लोकों को उद्धृत किया है अतः इनकी पूर्व सीमा 1156 ई0 सुनिश्चित की जा सकती है क्योंकि इसके पूर्व इनके अस्तित्व का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता ? और तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा चौदहवीं शताब्दी के आदि में विद्यानाथ ने अलंकार चिन्तामणि से प्रभावित प्रतीत होते हैं । किसी ग्रन्थ की प्रसिद्धि में 50 वर्षों का समय तो लग ही सकता है ऐसी स्थिति में आचार्य अजितसेन का समय बारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण से तेरहवीं शताब्दी तक स्वीकार करना समीचीन प्रतीत होता है ।

डॉ0 नेमिचन्द्र शास्त्री ने अजितसेन के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्यों को प्रस्तुत किया है -

---

1. संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास - पी0वी0 काणे - पृ0-366

"नं0 40, सन् 1077 मानस्तम्भ पर - चट्टलदेवी ने कमलभद्र पण्डितदेव के चरण धोकर भूमि दी । पंचकूट जिन मन्दिर के लिए विक्रमसान्तरदेव ने अजितसेन पण्डितदेव के चरण धोकर भूमि दी ।"[1]

"नं0 3, सन् 1090 के लगभग पोप्पग्राम - इस स्मारक को अपने गुरू मुनि वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में महाराज मारसान्तरवंशी ने स्थापित किया । यह जैन आगमरूप समुद्र की वृद्धि में चन्द्रमासमान था ।"[2]

"नं0 192, सन् 1103 - चालुक्य त्रिभुवनमल्ल के राज्य में उग्रवंशी अजबलिसान्तर ने पीम्बुच्च में पंचवस्ति बनवायी । उसी के सामने अनन्दूर में चट्टल देवी और त्रिभुवनमल्ल - सान्तरदेव ने एक पाषाण की वस्ति द्रविलसंघ अरूंगलान्वय के अजितसेन पण्डितदेव - वादिघरट्टके नाम से बनवायी ।"[3]

"नं0 83, सन् 1117 - चामराज नगर में पार्श्वनाथ वस्ति में एक पाषाण पर जब द्वारावती (हलेबीडु) में वीरगंग विष्णुवर्धन विट्टिग होयसलदेव राज्य करते थे तब उनके युद्ध और शान्ति के महामंत्री चाव और अरसिकव्वेपुत्र पुनीश राजदण्डाधीश था । यह श्री अजितमुनियति का शिष्य जेन श्रावक था तथा यह इतना वीर था कि इसने टोड को भयवान किया, कौंगों को भगाया, पल्लवों का वध किया,

---

1. मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक - पृ0-320 - उद्धृत अलंकारचिन्तामणि - प्रस्तावना पृ0 - 29
2. वही - पृ0 सं0 291 - उद्धृत अ0चि0 प्रस्तावना पृ0 29 ।
3. वही - पृ0 सं0 325 - उद्धृत अ0चि0 प्रस्तावना पृ0 29 ।

मलयालों का नाश किया, कालराज को कम्पायमान किया तथा नीलगिरि के ऊपर जाकर विजय की पताका फहरायी ।"[1]

"नं0 103, सन् 1120 सुकदरे ग्राम में लक्कम्म मन्दिर के सामने पाषाण पर । माता एचले के पुत्र अत्रेयगोत्री जक्किसेट्टि ने अपने सुकदरे ग्राम में एक जिनालय बनवाया व उसके लिए एक सरोवर भी बनवाया तथा दयापालदेव के चरण धोकर भूमिदान की । इसके गुरु अजितमुनि यति थे जो द्रविल संघ में हुए, जिसमें समन्तभद्र, भट्टाकलंक, हेमसेन, वादिराज व मल्लिसेण मलधारी हुए ।"[2]

"नं0 37, सन् 1147, तोरणवागिल के उत्तर खम्भे पर । - जगदेवमल्लके राज्य में राजा तैलसान्तर जगदेकदानी हुए । भार्या चट्टलदेवी इनके पुत्र श्री वल्लभराज या विक्रमसान्तर त्रिभुवनदानी पुत्री पम्पादेवी थी । पम्पादेवी महापुराण में विदुषी थी ---- । पम्पादेवी ने अष्टाविधार्चन महाभिषेक व चतुर्भक्ति रची । यह द्रविलसंघ नन्दिगण अरूंगलान्वय, अजितसेन, पण्डितदेव या वादीभसिंह की शिष्या श्राविका थी । पम्पादेवी के भाई श्री वल्लभराज ने वासुपूज्य सी0 देव के चरण धोकर दान किया ।"[3]

"नं0 130, लगभग सन् 1147 ई0 इस बस्ति के द्वार पर । श्री अजितसेन भट्टारक का शिष्य बड़ा सरदार पर्मादि था । उसका ज्येष्ठ पुत्र भीमप्य, भार्या देवल

---

1. मद्रास व मैसूर प्रान्त के जैन स्मारक, पृ0 - 186, उद्धृत अलंकार चिन्तामणि, पृष्ठ संख्या 29
2. वही - पृ0सं0 - 202, उद्धृत - अ0चि0 पृ0 - 29 ।
3. वही - पृ0सं0 - 319, उद्धृत - अ0चि0 पृ0 - 30 ।

थे । उनके दो पुत्र थे - मसन सेट्टि और मारिसेट्टि । मारिसेट्टि ने दोरसमुद्र में एक उच्च जैन मन्दिर बनवाया ।"[1]

नं0 1, सन् 1169 ई0, ग्राम वन्दियर (?) म-+ जैन बस्ती के पाषाण पर । इस समय होय्सल बल्लादेव दोरसमुद्र में राज्य कर रहे थे । यहाँ मुनि वंशावली दी है । श्री गौतम भद्रबादु, भूतबलि, पुष्पदन्त, एकसन्धि सुमतिभ, समन्तभद्र, भट्टाकलंकदेव, वक्रग्रीवाचार्य, वज्रनन्दि भट्टारक, सिंहनन्द्याचार्य, परिवादिमल्ल, श्रीपालदेव, कनकसेन, श्री वादिराज, श्री विजयदेव, श्रीवादिराजदेव, अजितसेन, पण्डितदेव ---- ।"[2]

उपर्युक्त अभिलेखों में उल्लिखित- अजितसेन का समय ई0 सन् 1077 से ई0 सन् 1170 तक है । इस प्रकार तिरानबे वर्षों का काल, उनका कार्यकाल आता है । यदि इस कार्यकाल के पूर्व बीस - पच्चीस वर्ष की आयु के भी रहे हों तो उनका आयुकाल एक सौ अठारह वर्ष के करीब पहुँच जाता है । अभिलेखों में स्पष्ट लिखा हुआ है कि विक्रम सान्तरदेव ने अजितसेन को मान्यता प्रदान की। इस प्रकार अजितसेन का समय ईसवी सन् की ग्यारहवीं - बारहवीं शती सिद्ध होता है । पर अलंकार चिन्तामणि के रचयिता ने जिनसेन, हरिचन्द्र, वाग्भट, अर्हद्दास और पीयूष वर्ष आदि आचार्यों के श्लोक उद्धृत किये हैं । इन उल्लिखित आचार्यों

---

1. मद्रास व मैसूर प्रान्त के जैन स्मारक, पृ0सं0 - 273, उद्धृत अ0चि0 पृ0 - 30 ।
2. मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक, पृ0 - 279 - उद्धृत अलंकार चिन्तामणि प्रस्तावना - पृ0 - 30।

में अर्हद्दास का समय विक्रम की तेरहवीं शती का अन्तिम चरण है । अतः अजित सेन का समय इसके पश्चात् होना चाहिए । पोम्बुच्च से प्राप्त पूर्वोक्त अभिलेखों में निर्दिष्ट अजित सेन का समय ईसवी सन् की बारहवीं शती है । अतः उक्त अजितसेन अलंकार चिन्तामणि के रचयिता नहीं हो सकते ।

"श्रवणबेलगोला के तीन अभिलेखों में अजितसेन का उल्लेख आया है। अभिलेख संख्या अड़तीस में बताया गया है कि गंगराज मारसिंह ने कृष्णराज तृतीय के लिए गुर्जर देश को जीता था । उसने कृष्णराज के विपक्षी अल्लका मद चूर किया, विन्ध्य पर्वत की तलहटी में रहने वाले किरातों के समूह को जीता और मान्यखेट में कृष्णराज की सेना की रक्षा की । इन्द्रराज चतुर्थ का अभिषेक कराया, पाताल मल्लके कनिष्ठ भ्राता वज्जल को पराजित किया, वनवासी नरेश की धनसम्पत्ति का अपहरण किया, माटूरवंश का मस्तक झुकाया और नोलम्ब कुल के नरेशों का सर्वनाश किया । इतना ही नहीं उसने उच्चंगि दुर्ग को स्वाधीन कर रावराधिपति नरग का संहार किया, चौड़ नरेश राजादित्य को जीता एवं चेर, चोड, पाण्ड्य और पल्लव नरेश को पराजित किया । इसने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया । अन्त में राज्य का परित्याग कर अजितसेन भट्टारक के समीप तीन दिवस तक सल्लेखना व्रत का पालन कर बंकापुर में देहोत्सर्ग किया ।

धर्म्म (मं) गलं नमस्यं नडयिसिबलियमोन्दुवर्ष राज्यमं पत्तुविट्टु बंकापुरदोल् अजितसेनभट्टारकर श्रीपादसन्निधियोल् आराधनाविधियिंमूरूदे संनोनतु समाधियं साधिसिदं ।।"[1]

---

1. जैनशिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं0-38 पृ0-20-उद्धृत अलंकार चिन्तामणि - प्रस्तावना - पृ0 - 3।

यह अभिलेख शक सम्वत् 896 ई0 का है । अतः अजितसेन का समय ईसवी सन् की दशम शती सिद्ध होता है । इस प्रकार यह अजितसेन भी अलंकार-चिन्तामणि के रचयिता नहीं हो सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त शक् सम्वत् 1050 में अंकित मल्लश्रेणप्रशस्ति में भी अजितसेन का नामोल्लेख है । अतः अजितसेन का समय 12वीं शती सिद्ध होता है ।[1]

डॉ0 ज्योति प्रसाद जी ने अजितसेन का परिचय देते हुए लिखा है कि अलंकार चिन्तामणि के रचयिता अजितसेन यतीश्वर दक्षिणदेशान्तर्गत तुलुव प्रदेश के निवासी सेनगण पोगरिगच्छ के मुनि सम्भवतया पार्श्वसेन के प्रशिष्य और पद्मसेन के गुरु महासेन के सधर्मा या गुरू थे ।[2]

अजितसेन के नाम से श्रृंगारमञ्जरी नामक एक लघुकाय अलंकार ग्रन्थ भी प्राप्त है । इस ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं । कुछ भण्डारों की सूचियों में यह ग्रन्थ 'रायभूप' की कृति के रूप में उल्लिखित है । किन्तु स्वयं ग्रन्थ की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि श्रृंगारमंजरी की रचना आचार्य अजितसेन ने शीलविभूषणा रानी विट्ठल

---

1. सकल-भुवनपालानम्र-मूर्द्धावबद्ध-
स्फुरित-मुकुट-चूड़ालीढ-पादारविन्दः
मदवदलिख-वादीभेन्द्र-कुम्भप्रभेदी
गणभृदजितसेनों भाति वादीभसिंहः ।।
जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं0 40, पद्य 57, पृ0सं0 111, उद्धृत अ0चि0 - प्रस्तावना

देवी के पुत्र और 'राय' नाम से विख्यात सोमवंशी जैन नरेश कामिराय के पढ़ने के लिए संक्षेप में की है । प्रशस्तिपद्य निम्न प्रकार है -

राज्ञी विट्ठलदेवीति ख्याता शीलविभूषणा ।
तत्पुत्रः कामिरायाख्यो 'राय' इत्येव विश्रुतः ।।
तद्भूमिपालपाठार्थमुदितेयमलंकिया ।
संक्षेपेण बुधैर्ह्येषा यद्भात्रास्ति (?) विशोध्यताम् ।।[1]

श्रृंगारमञ्जरी की दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं । एक प्रति के अन्त में 'श्रीमदजितसेनाचार्य-विरचिते श्रृंगारमंजरीनामालंकारे तृतीयः परिच्छेदः' तथा दूसरी प्रति में "श्रीसेनगणाग्रगण्यतपोलक्ष्मीविराजिताजितसेनदेवयतीश्वरविरचितः श्रृंगारमञ्जरीनामालंकारोऽयम्" लिखा है । विजयवर्णी ने राजा कमिराय के निमित्त श्रृंगारार्णवचन्द्रिका ग्रन्थ लिखा है । सोमवंशी कदम्बों की एक शाखा वंग वंश के नाम से प्रसिद्ध हुई । दक्षिण कन्नड़ जिले तुलु प्रदेश के अन्तर्गत वंगवाडपर इस वंश का राज्य था । बारहवीं-तेरहवीं शती के तुलुदेशीय जैन राजवंशों में यह वंश सर्वमान्य सम्मान प्राप्त किये हुए था । इस वंश के एक प्रसिद्ध नरेश वीर नरसिंह वंगराज (1157-1208 ई0) के पश्चात् चन्द्रशेखरवंश और पाण्ड्यवंग ने क्रमशः राज्य किया । तदनन्तर पाण्ड्यवंग की बहन रानी विट्ठलदेवी (1239-44) राज्य की संचालिका रही और सन् 1245

---

1. जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, वीर सेवा मन्दिर, ई0 सन् 1954, पृ0 90, पद्य 46-47 । (उद्धृत- अ0चि0 प्रस्तावना पृ0सं0 32)

में इस रानी विट्ठलम्बाका पुत्र उक्त कामिराय प्रथमवंगनरेन्द्र राजा हुआ । विजयवर्णी ने उसे गुणार्णव और राजेन्द्रपूजिम लिखा है ।

प्रशस्ति में बताया है -

स्याद्वादधर्मपरमामृतदत्तचित्तः
सर्वोपकारिजिननाथपदाब्जभृंगः ।
कादम्बवंश जलराशिसुधामयूखः
श्रीरायबंग नृपतिर्जगतीह जीयात् ।।
गर्वारूढ़विपक्षदक्षबलसंघाताद्भुताडम्बरा
मन्दोद्गर्जनघोरनीरदमहासंदोह झञ्झानिल ।
प्रोद्यद्भानुमयूखजालविपिनव्रातानलज्वालसा-
दृश्योद्भासुरवीरविक्रमगुणस्ते रायवंगोद्भवः ।।
कीर्तिस्ते विमला सदा वरगुणा वाणी जयश्रीपरा
लक्ष्मीः सर्वहिता सुखं सुरसुखं दानं निधानं महत् ।
ज्ञानं पीनमिदं पराक्रमगुणस्तुंगोनयः कोमलो -
रूपं कान्ततरं जयन्तनिभमो श्रीरायभूमीश्वर ।।[1]

कामिराय को विजयवर्णी पाण्ड्यवंग का भागिनेय बताया है -

---

1. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ज्ञानपीठ संस्करण, 10/195/197, पृ0 120 ।

कामिराय को विजयवर्णी पाण्ड्यवंग का भागिनेय बताया है -

तस्य श्रीपाण्ड्यवंगस्यभागिनेयो गुणार्णवः ।

विट्ठलाम्बामहादेवीपुत्रो राजेन्द्रपूजितः ।।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि अजितसेन सेनगण के विद्वान थे ।

डॉ0 ज्योति प्रसाद जैन ने ऐतिहासिक दृष्टि से अजितसेन के समय पर विचार किया है । उन्होंने अजितसेन को अलंकारशास्त्र का वेत्ता कवि और चिन्तक विद्वान बतलाया है ।

अजितसेन ने अलंकारचिन्तामणि में समन्तभद्र, जिनसेन, हरिचन्द्र, वाग्भट और अर्हद्दास आदि आचार्यों के ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं । हरिचन्द्र का समय दशमशती, वाग्भट का ग्यारहवीं शती और अर्हद्दास का तेरहवीं शती का अन्तिम चरण है । अतएव अजितसेन का समय तेरहवीं शती होना चाहिए । डॉ0 ज्योति प्रसाद जी का अभिमत है कि अजितसेन ने ईसवी सन् 1245 के लगभग श्रृंगारमञ्जरी की रचना की है, जिसका अध्ययन युवक नरेश कामिराय प्रथम बंग नरेन्द्र ने किया और उसे अलंकारशास्त्र के अध्ययन में इतना रस आया कि ईसवी सन् 1250 के लगभग विजयकीर्ति के शिष्य विजयवर्णी से श्रृंगारार्णवचन्द्रिका की रचना करायी । आश्चर्य नहीं कि उसने अपने आदि विद्यागुरू अजितसेन को भी इसी विषय पर एक अन्य विशद ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा की हो, और उन्होंने अलंकारचिन्तामणि के द्वारा शिष्य की इच्छा पूरी की हो ।

अर्हद्दास के मुनिसुव्रत काव्य का समय लगभग 1240 ई0 है । और इस काव्य ग्रन्थ की रचना महाकवि पं0 आशाधर के सागारधर्मामृत के पश्चात् हुई है । आशाधर ने सागारधर्मामृत को ई0 सन् 1228 में पूर्ण किया है । अलंकारचिन्तामणि में आदि पुराण के उद्धरण आये हैं और आदि पुराण के रचयिता जिनसेन के समय की उत्तरावधि आठ सौ पचास ईसवी के लगभग है । धर्मशर्माभ्युदय की रचना नेमिनिर्वाण काव्य से पूर्व हो चुकी है । और नेमिनिर्वाण काव्य वाग्भटालंकार का पूर्ववर्ती है। वाग्भटालंकार के रचयिता वाग्भट गुजरात के सोलंकी नरेश जयसिंह, सिद्धराज (ई0 सन् 1094-1142 ई0) के समय हुए हैं । मुनिसुव्रत काव्य के रचयिता अर्हद्दास पं0 आशाधर के समकालीन हैं । ये आशाधरजी की सूक्तियों और सद्ग्रन्थों के भक्त अध्येता थे और उन्हें, गुरूवत् समझते थे । पं0 आशाधर जी का निश्चित समय 1210-43 ई0 है । अतः अर्हद्दास का समय भी ई0 सन् 1240-50 ई0 के आस-पास निश्चित है ।

आशाधर जी ने सागारधर्मामृत की रचना 1228 ई0 में पूर्ण की है । अतः मुनिसुव्रत काव्य के रचयिता अर्हद्दास के काव्यक्रन्थों के उद्धरण अलंकारचिन्तामणि में विद्यमान रहने से अलंकारचिन्तामणि का रचनाकाल ईसवी सन् 1250-60 के मध्य है और इस ग्रन्थ के रचयिता 'अजितसेन' पाण्ड्यबंग की बहन रानी विट्ठलदेवी के पुत्र कामिराय प्रथम बंगनरेन्द्र के गुरू हैं । इस प्रकार इतिहास के वाह्य साक्ष्यों तथा अलंकार चिन्तामणि में विद्यमान वामन, आनन्दवर्धन, वाग्भट आदि के अन्तः साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किए गये उद्धरणों से आचार्य अजितसेन का समय 13 वीं शताब्दी सिद्ध होता है ।

स्थानः- आचार्य अजितसेन दक्षिण भारतीय विद्वान् रहे हैं । क्योंकि विजयवर्णी ने राजा कामिराय के निमित्त 'श्रृंगारार्णवचन्द्रिका' ग्रन्थ लिखा है । सोमवंशी कदम्बों की एक शाखा वंगवंश के नाम से प्रसिद्ध हुई । दक्षिण कन्नड़ जिले तुलु प्रदेश के अन्तर्गत वंगवाडपर इस वंश का राज्य था । बारहवीं-तेरहवीं शती के तुलुदेशीय जैन राजवंशों में यह सर्वमान्य सम्मान प्राप्त किए हुए था । इस वंश के एक प्रसिद्ध नरेश वीर नरसिंह वंगराज (1156-1208 ई0) के पश्चात् चन्द्रशेखरवंग और पाण्ड्यवंग ने क्रमशः राज्य किया । तदनन्तर पाण्ड्यवंग की बहन रानी विट्ठलदेवी (1239-44 ई0) राज्य की संचालिका रही । सन् 1245 में इस रानी विट्ठलम्बाका पुत्र उक्त कामिराय प्रथमवंगनरेन्द्र राजा हुआ । विजयवर्णी उसे गुणार्णव और राजेन्द्रपूजित लिखा है । प्रशस्ति में बतया है -

स्याद्वादधर्मपरमामृतदत्तचित्तः

सर्वोपकारिजिननाथपदाब्जभृंगः ।

कादम्बवंशजलराशिसुधामयूखः

श्रीरायबंगनृपतिर्जगतीह जीयात् ।।

गर्वारूढ़ विपक्षदक्षबलसंघाताद्भुताडम्बरा -

मन्दोद्गर्जनघोरनीरदमहासंदोहझञ्झानिल ।

प्रोद्यद्भानुमयूखजालविपिनव्रातानलज्वालसा -

दृश्योद्भासुरवीर विक्रमगुणस्ते रायवंगोद्भवः ।।

कीर्तिस्ते विमला सदा वरगुणा वाणी जयश्रीपरा

लक्ष्मीः सर्वहिता सुखं सुरसुखं दानं निधानं महत् ।

ज्ञानं पीनमिदं पराक्रमगुणस्तुंगोनयः कोमलो -

रूपं कान्ततरं जयन्तनिभयो श्रीरायभूमीश्वर ।[1]

कामिराय को विजयवर्णी ने पाण्ड्यवंग का भागिनेय बताया है । लिखा -

तस्य श्रीपाण्ड्यवंगस्य भागिनेयो गुणार्णवः ।

विट्ठलाम्बामहादेवीपुत्रो राजेन्द्रपूजितः[2] ।।

"डॉ0 ज्योति प्रसादजी का अभिमत है कि अजितसेन ने ईसवी सन् 1245 के लगभग 'श्रृंगारमञ्जरी' की रचना की है जिसका अध्ययन युवक नरेश कामिराय प्रथम बंगनरेन्द्र ने किया और उसे अलंकारशास्त्र के अध्ययन में इतना रस आया कि उसने ईसवी सन् 1250 के लगभग विजयकीर्ति के शिष्य विजयवर्णी से श्रृंगारार्णवचन्द्रिका की रचना करायी । आश्चर्य नहीं कि उसने अपने आदि विद्यागुरू अजितसेन को भी इसी विषय पर एक अन्य विशद ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा की हो, और उन्होंने 'अलंकारचिन्तामणि' के द्वारा शिष्य की इच्छा पूरी की हो ।"[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में यह चर्चा की गयी है कि युवकनरेश कामिराय प्रथम बंग नरेन्द्र थे और उन्होंने अजितसेन कृत 'श्रृंगारमञ्जरी' का अध्ययन किया था और

---

1. श्रृंगारार्णवचन्द्रिका, ज्ञानपीठ संस्करण, 10/195, पृ0सं0-120

2. श्रृंगारार्णवचन्द्रिका, ज्ञानपीठ संस्करण, 1/16 ।

3. 'अलंकारचिन्तामणि' प्रस्तावना, पृ0 - 33

विजयवर्गी के अनुसार विट्ठलाम्बा का पुत्र कामिराय प्रथम दक्षिण कन्नड़ प्रदेश का शासक था । इससे विदित होता है कि अजितसेन भी दक्षिण प्रदेश के ही निवासी थे । इनका स्थान दक्षिण कन्नड़ जिले के तुलु प्रदेश के अन्तर्गत स्वीकार करना समीचीन प्रतीत होता है ।

वंश:-

महाकवि अजितसेन काश्यप गोत्री विद्वान थे । इन्होंने ग्रन्थ की समाप्ति में अपने गोत्र-सूत्र तथा शाखा-प्रवर का परिचय भी दिया है जिसके अनुसार इनका सूत्र 'चाह्वान' था । ये 'प्रथमा-नियोग' शाखा के अध्येता थे । वंश-परम्परा के अनुसार इनका प्रवर 'वृषभ' था । जिसका उल्लेख इस प्रकार से किया गया है -

काश्यपे नाम्नि गोत्रे च सूत्रे चाह्वाननाम्नि च ।

प्रथमानुयोगशाखायां वृषभप्रवरेऽपि च ।

एतद्वंशेषु जातोऽहम् -

(अ0चि0 पृ0-335)

इसके अतिरिक्त इन्होंने ग्रन्थान्त में इक्ष्वाकु-वंशोत्पन्न संसार में पूज्यनीय 'बाहुबली' को नमस्कार किया है [1] तथा ग्रन्थ की समाप्ति 'प्लव' नामक संवत्सर,

---

1. जगत्पूज्य विन्ध्याग्रे इक्ष्वाकुवरवंशजम् ।

सुरासुरादिवन्द्याङ्घ्रि दोर्बलीशं नमाम्यहम् ।।

शरद्ऋतु, अश्विन शुक्ला - चतुर्दशी गुरुवार के दिन 'अलंकारचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान की ।[1]

व्यक्तित्व:-

किसी कवि या ग्रन्थकार के काव्य या ग्रन्थ के अनुशीलन से उसके व्यक्तित्व के विषय में किञ्चित परिचय प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि काव्य कवि के हृदय से नि:श्रित भाव-धाराओं से अनुप्राणित रहता है । कवि की कृति उसके स्वभावानुकूल ही होती है । कवि ही वस्तुतः काव्य जगत का स्रष्टा होता है । वह स्वेच्छा से काव्य जगत का निर्माण करता है । यदि कवि हृदय सरस हो तो निश्चित ही उसके द्वारा सरस काव्य का निर्माण होगा ओर यदि नीरस हो तो सरसता उससे कोशों दूर रहेगी । कवि का काव्य ही उसके सरस एवं नीरस व्यक्तित्व का परिचायक होता है -

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वंतथेदं परिवर्तते ।।
सरसश्चेद् कविः सर्वं जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं प्रतिपद्यते ।।[2]

---

1. प्लवसंवत्सरे मासे शुक्ले च सुशरद्ऋतौ ।
आश्विने च चतुर्दश्यां युक्तायां गुरुवासरे ।।
एतद्दिनेष्वलंकारचिन्तांमणिसमाह्वयम् ।
सम्यक् पठित्वा श्रुत्वाहं संपूर्णं शुभमस्तुनः ।। (अ0चि0 पृ0-335)

2. ध्वन्यालोक

महाकवि अजितसेन संसकृत काव्य शास्त्र के उद्भट विद्वान रहे । इन्होंने ग्रन्थ के आदि में भगवान 'शान्तिनाथ' को नमन किया है[1] और ग्रन्थ के अन्त में इक्ष्वाकु वंश प्रसूत अत्यन्त बलशाली भुजा वाले बाहुबली को भी नमस्कार किया है[2] इससे विदित होता है कि जैन धर्म के प्रति इनकी अपार श्रद्धा तथा भक्ति थी । ग्रन्थारम्भ में इन्होंने समन्तभद्रादि कवियों को भी नमस्कार किया है[3] जिससे पूर्व कवियों के प्रति आदर भाव की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है । उच्चकोटि के विद्वान होते हुए भी इनमें संग्रहात्मक प्रवृत्ति भी थी क्योंकि अलंकार चिन्तामणि में प्रदत्त उदाहरण प्राचीन पुराण-ग्रन्थ तथा सुभाषित ग्रन्थ और स्तोत्रों से लिए गये हैं ।[4]

आचार्य अजितसेन में अहंकार का सर्वथा अभाव था । इनके ग्रन्थ में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं प्राप्त होता जो इनके अहंकार व गर्वोक्ति का सूचक हो । इन्होंने ग्रन्थ के अन्त में अल्पज्ञता या प्रमाद से होने वाली त्रुटियों के संशोधनार्थ सुधी-जनों से आग्रह भी प्रकट किया है -

---

1. श्रीमते सर्वविज्ञानसाम्राज्यपदशालिने ।
   धर्मचक्रेशिने सिद्धशान्तयेऽस्तु नमो नमः ।। (अ0चि0- 1/1)
2. जगत्प्रपूज्य विन्ध्याग्रे इक्ष्वाकुवरवंशजम् ।
   सुरासुरादिवन्याङघ्रिं दोर्बलीशं नमाम्यहम् ।। अ0च0 पृ0-335
3. श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुञ्जरसंचयम् ।
   मुनिवन्द्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रियै ।। अ0चि0 - 2/3
4. अत्रोदाहरणं पूर्वपुराणादिसुभाषितम् ।
   पुण्यपूरुषसंस्तोत्रपरं स्तोत्रमिदं ततः ।। अ0चि0 - 1/5

अल्पज्ञत्वात् प्रमादाद् वा स्खलितं तत्र तत्र यत् ।

संशोध्य गृह्यतां सद्भिः श्लिष्टावकरदृष्टिवत् ।।

अ0चि0 5/406

इन्होंने प्रायः संस्कृत काव्यशास्त्र के सभी विषयों का उल्लेख किया है जिनमें रस, अलंकार गुण, वृत्ति नेतृ-गुणादि की भी चर्चा की गयी है । इन विषयों के परिशीलन से यह विदित होता है कि महाकवि अजितसेन का अलंकारशास्त्र पर पूर्ण अधिकार था ।

कृतित्वः-

महाकवि अजितसेन द्वारा रचित अलंकारशास्त्रीय दो कृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है । **प्रथम कृति - 'शृङ्गारमञ्जरी'** है जो तीन अध्यायों और 128 परिच्छेदों में विभक्त हैं । इसमें दोषगुण तथा अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है ।[1]

मूलग्रन्थ के अभाव में इस ग्रन्थ के प्रणेता के विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि कुछ भण्डारों की सूचियों में यह ग्रन्थ रायभूप की कृति के रूप में उल्लिखित है ।[2]

---

1. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ0 - 545

2. राज्ञी विट्ठलदेवीति ख्याता शीलविभूषणा ।

   तत्पुत्रः कामिराख्यो 'राय' इत्येव विश्रुतः ।।

   तद्भूमिपालपाठार्थमुदितेयमलंक्रिया ।

   संक्षेपेण बुधैर्ह्येषा यद्भात्रज्ञस्ति (?) विशोध्यताम् ।।

   (अ0चि0 प्रस्तावना पृ0 - 32)

कवि की **द्वितीय कृति- 'अलंकारचिन्तामणि'** है जो वस्तुतः अजितसेन की कीर्ति पताका है । यह ग्रन्थ महाकवि के वैदुष्य का परिचायक है । सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है इस ग्रन्थ की कारिकाएँ तथा उदाहरण प्रायः अनुष्टुप छन्द में निबद्ध है, 406 कारिकाओं में ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती है । इस ग्रन्थ में प्रतिपादित समस्तविषयों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में किया गया है अतः उन विषयों का प्रस्तुत स्थल पर उल्लेख करना समीचीन नहीं है ।

* - * - *

अध्याय - 2

कवि शिक्षा निरूपण

इसके पूर्व कि कवि-शिक्षा पर विचार किया जाय । 'काव्य' और 'कवि' शब्द के विषय में ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है ।

काव्य शब्द का अर्थ 'कवि की कृति' है - कवि द्वारा जो कार्य किया जाय उसे काव्य कहते हैं - 'कवेरिदं कार्य भावो वा' (ष्यञ् प्रत्यय) ।[1] 'कवनीयं काव्यम्' ।[2] कवयतीति कवि तस्य कर्म काव्यम् ।[3] काव्य प्रकाश के टीकाकार वामन झलकीकर के अनुसार काव्य प्रणेता कवि की भारती ही वस्तुतः काव्य की कोटि में स्वीकार की गयी है । इन्होंने कवि भारती को काव्य की अभिधा प्रदान की है ।[4]

सम्प्रति 'कवि' शब्द के अर्थ के विषय में भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा । 'अमरकोष' के अनुसार कवि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है-

'कवते सर्वं जानाति सर्वं वर्णयतीति कविः ।

यद् वा कुँ शब्दे + अच् = इः (शब्द कल्पद्रुम) तथैव कवते श्लोकान् ग्रथते वर्णयति वा[5] (अमरकोष) वेदों में भी 'कवि' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है ।[6] वेदों के प्रकाशक श्री ब्रह्मा जी के लिए श्रीमद्भागवत् में कवि शब्द

---

1. गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यःकर्मणि च (अष्टध्यायी)
2. अभिनवगुप्ताचार्य (ध्वन्ध्यालोक लोचन) उद्धृत - सं0सा0इ0 - (कन्हैया लाल पोद्दार भाग-2 पृ0 20)
3. विद्याधर एकावली - उद्धृत - सं0सा0इति0 - कन्हैया लाल पोद्दार पृष्ठ - 10, भाग - 2
4. कवेः काव्यकर्तुः भारती काव्यम् । (बालबोधिनी पृष्ठ चार)
5. सं0सा0इ0 - कन्हैया लाल पोद्दार, पृष्ठ - 20
6. कविर्मनीषीपरिभूः स्वयंभूः (शुक्ल यजुर्वेद 40/8) उद्धृत - सं0सा0इ0 - कन्हैया लाल पोद्दार (पृष्ठ - 20)

का प्रयोग किया गया है ।[1] श्री वाल्मीकीय रामायण के प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'इत्यार्षे आदिकाव्ये' का उल्लेख है[2] और महाभारत के विषय में 'कृतमयेदं भगवन् काव्यं परम पूजितम्' । (महाभारत 1/61) अग्निपुराण में भी कवि को काव्य जगत् का स्रष्टा कहा गया है ।

"अपारे काव्य संसार कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।" (अग्नि पु0 329/10)

उक्त पद्य में कवि को काव्य संसार के प्रजापति के रूप में वर्णित किया गया है । इससे विदित होता है कि कवि शब्द प्रतिभा सम्पन्न एक विशेष प्रकार की असाधारण शैली की रचना करने वाले विद्वान के अर्थ में योगरूढ़ कर दिया गया है ।[3]

कालान्तर में कवि की कृति को काव्य और काव्य निर्माता को कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हो गयी ।[4]

काव्य - स्वरूप

प्रायः सभी आलङ्कारिक आचार्यों ने काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ न कुछ नवीन विचार व्यक्त किये हैं । सर्वप्रथम आचार्य भरत के अनुसार काव्यों में उदार एवं मधुर शब्दों की योजना का सङ्केत प्राप्त होता है । जिसकी

---

1. तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये (श्रीमद्भावत् 1/1/1)
2. बाल्मीकि रामायण (गीता प्रेस गोरखपुर)
3. सं0सा0इ0 - क0ला0पो0 (पृष्ठ 20-21)
4. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता
   तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुणः कविः ।
   तस्य कर्मस्मृतं काव्यम् ।

(सं0सा0इ0 - पृष्ठ 21)

संरचना से काव्य प्रबन्धों की शोभा में वृद्धि होती है ।[1] अतः काव्य में कोमलकान्त, पदावलियों का प्रयोग होना नितान्त आवश्यक है । उचित सन्धि-सन्धान आदि से व्यवस्थित काव्य रस-स्रोतों को पूर्णरूप से प्रवाहित करने में समर्थ हो पाता है ।

मृदुललितपदाढ्यं गूढ़शब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोग्यम् ।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ।।

नाट्यशास्त्र (16/118)

भरतकृत् काव्य लक्षण में निम्नलिखित तत्त्वों का आधान हुआ है-

1. काव्य में उदार तथा मधुर तत्त्वों की योजना ।
2. भाषा का सुबोध तथा नृत्य में प्रयोग के योग्य होना ।
3. सन्धि सन्धान से युक्त तथा गूढ़ार्थ से रहित होना ।

भरत के अनन्तर आचार्य भामह ने काव्य के स्वरूप का निर्धारण करते समय शब्द व अर्थ पर विशेष बल दिया है । वस्तुतः शब्द तथा अर्थ ही काव्य निर्माण के प्रमुख साधन हैं । अतः भामह ने शब्दार्थ साहित्य को ही काव्य के रूप में स्वीकार किया है ।[2] उनके अनुसार साहित्य पद का तात्पर्य 'उक्ति वैचित्र्य' से है । जिसके अभाव में काव्य शोभित नहीं होता ।[3]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि भरतमुनि को उदार तथा माधुर्यादि गुण सम्पन्न शब्द ही काव्य के रूप में अभीष्ट थे किन्तु भामह केवल शब्द को काव्यत्व के रूप में प्रतिष्ठापित करने के पक्ष में नहीं हैं, उन्हें शब्दार्थ युगल

---

1. शब्दानुदारमधुरान्प्रमदाभिनेयान् । नाट्यश्रयान्कृतिसु प्रयतेत कर्तुम्
तैर्भूषिता बहुविभान्तिहिकाव्यबन्धाः । पद्माकराविकसिता इव राजहंसैः ।।
ना०शा० 16-122-24

2. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा । काव्यालङ्कार 1/16

3. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाष्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनयाऽविना ।। वही 2/85

में ही काव्यत्व अभीष्ट है । इन्होंने शब्दार्थ के समुचित सहभाव में काव्य स्वीकार कर नवीन विचार व्यक्त किया ।

परवर्ती काल में आचार्य रुद्रट तथा मम्मट ने भी शब्दार्थ युगल को ही काव्य की कोटि में स्वीकार किया है ।

आचार्य दण्डी की परिभाषा भरत व भामह दोनों से पृथक् हैं । ये काव्य को दो भागों में विभाजित करते हुए प्रतीत हो रहे हैं । इनके अनुसार ईष्टार्थ से सम्मिलित पदावली ही वस्तुतः काव्य है । इन्होंने काव्य को शरीर स्थानीय बताया है[1] किन्तु काव्य की आत्मा कौन सा तत्व है - इसकी कोई चर्चा नहीं की है तथापि इनके द्वारा किए गये अलंकारों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने काव्यात्मा के रूप में अलंकारों को ही स्वीकार किया है क्योंकि एक स्थान पर इन्होंने अलंकारों के द्वारा ही रस-निषेक विषयक उल्लेख किया है ।[2] इसके अतिरिक्त इन्होंने दुष्ट काव्य की निन्दा भी की है ।[3] इससे विदित होता है कि आचार्य दण्डी को दोष हीन अभीष्टार्थ प्रतिपादक अलंकार-युक्त शब्दावली ही काव्य के रूप में अभीष्ट है ।

आचार्य दण्डी के पश्चात् आचार्य वामन ने काव्य लक्षण को अधिक परिष्कृत किया है । इनके अनुसार दोष रहित, गुणालंकार से युक्त शब्दार्थ काव्य-रूप में स्वीकार किये जाते हैं ।[4] इन्होंने काव्य की आत्मा के विषय में भी चर्चा की है । जिसका उल्लेख भरत, भामह, दण्डी आदि ने नामतः नहीं किया । इनके अनुसार 'रीति' ही काव्यात्मा के रूप में स्वीकार की गयी है ।[5]

वामन के अनन्तर आचार्य रुद्रट ने भी भामह की भाँति शब्दार्थ युगल को काव्य के रूप में स्वीकार किया है ।[6] यद्यपि इन्होंने काव्य के अनिवार्य

---

1. शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली । — क0द0- 1/10
2. कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थं निषिञ्चतु । — वही 1/62
3. तदल्पमपि नोपेक्षं काव्ये दुष्टं कथञ्चन् ।
स्यादवपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।। — का0द0 1/7
4. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । — का0लं0सू0 1/1/1
5. 'रीतिरात्मा काव्यस्य' । — वही 1/2/6
6. ननु शब्दार्थौ काव्यम् । — रुद्रट का0लं0 2/1

तत्वों के रूप में किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है तथापि इन्होंने काव्य के विभिन्न उपादान तत्वों की योजना की है । जिनसे रीति, वृत्ति अलंकार व रसों का भी निबन्धन किया गया है । अतः ऐसी परिस्थिति में यह स्वीकार कर लेना अनुपयुक्त न होगा कि इन्होंने दोषों से रहित एवं रीति, वृत्ति, अलंकार तथा रसादि से युक्त शब्दार्थ युगल को काव्य माना है ।

रूद्रट के अन्तर अलंकार का युग प्रायः समाप्त हो जाता है और एक नवीन युग का प्रारम्भ होता है । इसी युग में आचार्य आनन्दवर्धन जैसे युग-प्रवर्तक पुरूष का आविर्भाव हुआ । इन्होंने ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की तथा सहृदय हृदयाह्लादक शब्दार्थ युगल को काव्य के रूप में स्वीकार किया ।[1] आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का महनीय तत्त्व स्वीकार किया है । जिसमें शब्दार्थ के साहित्य को आवश्यक बताया है । लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की प्रतीति कराना ही वक्रोक्ति है । इन्होंने इसे 'विचित्र अभिधा' भी कहा है -

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणी ।।

(वक्रोक्तिजी० 1/6 व 1/10)

आचार्य महिम भट्ट अनुभाव विभाव की वर्णना से युक्त वाक्य को काव्य के रूप में स्वीकार किया है ।[2] इनकी रस-वर्णनात्मक परम्परा का अवलोकन करने से विदित होता है कि ये आनन्दवर्धन की परम्परा से भिन्न हैं । यद्यपि ये स्पष्ट रूप से ध्वनि सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं तथापि आनन्द वर्धन ने जिस तत्त्व की मीमांसा ध्वनि के रूप में की है महिम भट्ट ने उसी तत्त्व को ध्वनि न मानकर 'अनुमेय' कहा है ।[3]

---

1. सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् ।
(ध्वन्यालोक 1/1 वृत्ति)
2. अनुभावविभावानां वर्णनाकाव्यमुच्यते, व्यक्तिविवेक पृष्ठ-102
3. अर्थोऽपिद्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च । तत्र शब्दव्यापार विषयो वाच्यः स एव मुख्यः उच्यते । वही पृष्ठ 47
काव्यारम्भस्यसाफल्यमिच्छिता तत्र प्रवृत्ति निबन्धनभावे नास्य रसात्मकत्व भावस्यमुपमन्तव्यं तन्मात्रप्रयुक्तश्च ध्वनिव्यपदेशः । वहीं पृष्ठ-102
रसात्मकता भावे मुख्यवृत्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात् । (वही पृष्ठ-103)

आचार्य भोज ने यद्यपि काव्य के किसी स्वतन्त्र स्वरूप का विवेचन नहीं किया तथापि प्रासंगिक उद्धरणों के अवलोकन से यह परिज्ञात होता है कि दोष-रहित गुण सहित अलंकारों से अलंकृत तथा रसान्वित काव्य ही कवि को कीर्ति व प्रीति प्रदान करने में समर्थ हो सकता है । कीर्ति तो काव्य प्रणेता को ही प्राप्त होगी ।

उक्त विचारों का अवलोकन करने से यह विदित होता है कि ये शब्दार्थ युगल में काव्यत्व स्वीकार करते हैं । अन्यथा 'अलंकारैः' में बहुवचन के प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी ।[1] 'सरस्वती कण्ठाभरण' में इन्होंने शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार का निरूपण भी किया है ।

आचार्य मम्मट दोष-रहित, गुण सहित और कहीं - कहीं अलंकारों के अभाव में भी शब्दार्थ समष्टि को काव्य के रूप में स्वीकार किया है ।[2] मम्मट कृत परिभाषा में निम्नलिखित तत्त्वों का आधान हुआ है -

1. काव्य में दोषों का अभाव
2. गुणों की योजना
3. अलंकारों का सन्निवेश

मम्मट कृत काव्य लक्षण में यह शंका उठाई जा सकती है कि इन्होंने काव्य लक्षण में रसों की कोई चर्चा नहीं की है तो क्या मम्मट के अनुसार रस से संवलित काव्य अकाव्य है ? इसके समाधान में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह अकाव्य नहीं अपितु काव्य ही है । क्योंकि जब गुण को रस के धर्म के रूप में स्वीकार करेंगे तो इस शंका का समाधान स्वतः हो जाएगा, क्योंकि रसों के धर्म के रूप में गुणों का उल्लेख मम्मट ने स्पष्ट रूप से कर दिया है । अतः

---

1. निर्दोषं गुणवत्काव्य मलङ्‌कारैरलङ्‌कृतम्
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विंदति ।
   (सरस्वतीकण्ठाभरण - 1/2 पृ0 2)

2. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्‌कृती पुनः क्वापि ।
   (का0प्र0 1/4)

धर्मी रस का ज्ञान अनुमानतः या आक्षेप से करना अनुपयुक्त न होगा ।[1]

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा भरतमुनि भामह, दण्डी, वामन, रूद्रट, भोज तथा मम्मट से भिन्न है । इन्होंने स्वकृत काव्य परिभाषा में पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषाओं का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है । इनके अनुसार शब्दालंकार तथा अर्थालंकार से युक्त, शृंगारादि नौ रसों से समन्वित, समुचित वाक्य विन्यास से युक्त, रीतियों के प्रयोग से सुन्दर, व्यंग्यादि अर्थों से समन्वित, दोषों से रहित गुणों से युक्त, उत्तम नायक के चरित्र वर्णन से सम्पृक्त, उभय लोक, हितकारी, सद्रचना ही काव्य की कोटि में स्वीकार की गयी है । उक्त विशेषताओं से संवलित काव्य ही उत्तम काव्य की कोटि में स्वीकार किया जाता है -

> शब्दार्थालङ्कृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामम्
> व्यंगयाद्यर्थ विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम् ।
> लोको द्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थी
> नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम् ।।
>
> (अलंकार चिन्तामणि - 1/7)

अजित सेन कृत परिभाषा में निम्नलिखित तत्त्वों का आधान हुआ है -

1. शब्दालंकार का सन्निवेश
2. अर्थालंकार का सन्निवेश
3. नौ रसों की योजना
4. रीति योजना
5. भावों को अभिरामता
6. व्यंगयार्थ का सद्भाव
7. दोष-राहित्य
8. गुणों का सद्भाव
9. उत्तम कोटि के नायक का चरित्र-चित्रण
10. उभयलोक हितकारित्व का होना
11. पुण्य तथा धर्म का साधक होना

---

1. ये रसस्यांगिनोधर्माः शौर्यादयइवात्मनः ।
   उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचल स्थितयो गुणाः ।।
   (का0प्र0 8/66)

अजितसेन कृत उक्त काव्य लक्षण में भामह, दण्डी, रूद्रट आदि अलंकारवादी आचार्यों के अलंकार तत्त्व का तथा आनन्दवर्धन के व्यंग्यार्थ व महिम भट्ट के द्वारा प्रतिष्ठापित रस तत्त्व तथा वामन द्वारा विवेचित रीति व गुण तत्त्व का समावेश हुआ है । इसके अतिरिक्त इन्होंने भोज तथा मम्मट की भाँति काव्य में दोष राहित्य का भी उल्लेख किया है । 'नेतृसद्वर्णनाढ्यम्' तथा 'लोकोद्वन्द्वोपकारि' का उल्लेख कर एक नवीन विचार व्यक्त किया है । अजित सेन के पूर्ववर्ती किसी कवि ने काव्य-लक्षण में उत्तम नायक के चरित्र - वर्णन की चर्चा नहीं की है और न ही उसे लोक हितकारी बताया है ।

परवर्ती काल में जयदेव कृत परिभाषा पर अजित सेन का सर्वाधिक प्रभाव लक्षित होता है । जयदेव कृत काव्य लक्षण में दोष - राहित्य, गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि उन सभी तत्त्वों की चर्चा की गयी है ।[1] जिसका उल्लेख आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा में नहीं था ।

जयदेव के पश्चात् आचार्य विश्वनाथ रसात्मक वाक्य को काव्य के रूप में स्वीकार किया है ।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को ।[3] इनके अनुसार अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराने वाली रचना ही वस्तुतः काव्य है ।

उपर्युक्त काव्य स्वरूप के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि श्रेष्ठ काव्य के लिए दोषाभाव, अलंकार, रस, रीति, व्यंग्यार्थ और गुणों का सद्भाव नितान्त अपेक्षित है ।

---

1. निर्दोषा लक्षणवती सरीति गुणभूषिता
   सालङ्कार रसानेक वृत्तिर्वाक्काव्यनाम भाक् ।
   (चन्द्रलोक 1/7)
2. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । (सा0द0 1/3 पृ0-20)
3. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । (रसगंगाधर 1/1 पृ0-9)

काव्य - हेतु

आचार्य भामह ने काव्य-हेतु का उल्लेख मात्र किया है । काव्य हेतु का लक्षण नहीं दिया किन्तु काव्य - रचना के लिए उपादेय तत्त्वों की चर्चा अवश्य की है । जिसके विश्लेषण व विवेचन के आधार पर उत्तरवर्ती आलंकारिक आचार्यों ने 'काव्य-हेतु' का निरूपण किया है ।[1]

आचार्य दण्डी के अनुसार 'पूर्वजन्मसंस्कारासादित प्रतिभा', 'नानाशास्त्र परिशीलन' और 'काव्यसंरचना का सतत अभ्यास' - ये तीनों मिलकर साधु काव्य के निर्माण के हेतु कहे गए हैं ।[2] इनके पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने प्रतिभा को सर्वाधिक महत्त्व दिया और काव्यों की शिक्षा तथा अभ्यास को सहायक के रूप में स्वीकार किया था परन्तु दण्डी ने तीनों को समान भाव से कारण-रूप में मान्यता प्रदान की । किन्तु भामह की भाँति इन्होंने भी अभ्यास के महत्त्व को स्वीकार किया तथा केवल अभ्यास व शास्त्रज्ञान से ही काव्य निर्माण की चर्चा की । ----- ~~दण्डी के पश्चात्~~ ----- । दण्डी के पश्चात् आचार्य वामन ने लोकविद्या और प्रकीर्ण - इन तीनों को काव्यांग के रूप में स्वीकार किया है । जिसमें लोक व्यवहार को 'लोकवृत्त' शब्द से अभिहित किया है तथा शब्द - स्मृति - अभिधान कोश - छन्दोविचिति कला - कामशास्त्र - दण्डनीति आदि का विद्या के रूप में स्वीकार किया ।

---

1. गुरूपदेशादध्येतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ।। 1/5
शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी ।। 1/9
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियाहरः ।। 1/10
(भामह - काव्या0)

2. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतंच बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ।।
न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिमानमद्भुतम् (काव्यादर्श-1/103)
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिताध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।। (वही-104)

लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, वृद्धसेवा - अवेक्षण - प्रतिभान तथा अवधान को प्रकीर्ण के रूप में मान्यता दी है ।[1]

काव्यानुशीलन से ही कवियों को काव्य निर्माण की व्युत्पत्ति होती है । अतः कवियों के लिए वामन के अनुसार उक्त सभी तत्त्वों का होना आवश्यक बताया गया है ।

आचार्य रुद्रट ने शक्ति के सम्बन्ध में बताया कि जिसके द्वारा सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का स्फुरण हो तथा काव्य - रचना के समय तत्काल अनेक शब्द व अर्थ हृदयस्थ हो जाए उसे शक्ति कहते हैं ।[2] शक्ति ही काव्य - रचना का बीजभूत संस्कार ~~संस्कार~~ है ।[3] शक्ति के पर्याय के रूप में कतिपय विद्वानों ने प्रतिभा का भी उल्लेख किया है । यह प्रतिभा कवि को जन्म के साथ ही प्राप्त होती है अथवा पूर्व पुण्य के प्रभाव से किसी देवता के प्रसाद द्वारा जन्म के बाद भी प्राप्त होती है । आचार्य रुद्रट ने इसे 'सहजा' व 'उत्पाद्या' दो रूपों में स्वीकार किया है । जिसमें 'सहजा' को अधिक महत्त्व दिया है ।[4]

आचार्य राजशेखर प्रतिभा को ही मुख्य रूप से काव्य का हेतु स्वीकार करते हैं समाधि और अभ्यास शक्ति को उद्भासित करते हैं ।[5]

---

1. लोको विद्या प्रकीर्णश्च काव्यांगनि । काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - 1/3/1
   लोकवृत्तं लोक । वहीं - 1/3/2
   शब्दस्मृत्यभिधानकोशाच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः ।
   वही - 1/3/3

   लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम् ।
   वही - 1/3/11
2. मनसि सदा सुसुमानिधि विस्फुरणमनेकधा विधे यस्य ।
   अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः । (काव्यालंकार- 1/15)
3. शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः । (का0प्र0- 1/3 वृत्ति)
4. काव्यालंकार - रुद्रट - 1/16
5. अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः । स हि सर्वगामी सर्वत्र
   निरतिशयं कौशलमाधत्ते । समाधिरान्तरः प्रयत्नो
   बाह्यस्त्वभ्यासः । तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः ।
   'सा केवलं हेतुः' इति यायावरीयः ।

इसके अतिरिक्त 'कारयित्री' तथा 'भावयित्री' रूप से प्रतिभा के दो भेदों का उल्लेख भी किया है । कारयित्री प्रतिभा कवि के लिए उपकारक होती है और भावयित्री भावक या काव्यालोचक के लिए हितकारिणी है । कारयित्री प्रतिभा को भी इन्होंने 'सहजा' आहार्या और औपदेशिकी - तीन रूपों में विभाजित किया है । पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त जन्मजात प्रतिभा-सहजा, जन्म और शास्त्रों एवं काव्यों के अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा आहार्या तथा मन्त्र, तन्त्र, देवता, गुरू आदि के वरदान या उपदेश से प्राप्त प्रतिभा औपदेशिक कही जाती है ।[1]

उक्त विवेचन से विदित होता है कि आचार्य राजशेखर केवल प्रतिभा को काव्य कारण के रूप में स्वीकार करते हैं । 'कवि' और कवि 'भावंक' - दोनों को कवि ही मानते हैं ।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ भी आचार्य राजशेखर की भाँति केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकार किया है ।[3]

आचार्य मम्मट दण्डी की भाँति शक्ति (प्रतिभा) निपुणता तथा अभ्यास- इन तीनों को सम्मिलित रूप से काव्य - कारण के रूप में स्वीकार किया है ।[4]

आचार्य अजित सेन कृत परिभाषा भामह-दण्डी-वामन, मम्मट तथा राजशेखर कृत परिभाषा से भिन्न है । इन्होंने काव्य हेतु के निरूपण में एक नया विचार व्यक्त किया है । इनके अनुसार व्युत्पत्ति, प्रज्ञा तथा प्रतिभा - ये

---

1. स च द्विधा कारयित्री भावयित्री च । कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री ।
   साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च ।
   (काव्यमीमांसा - अध्याय-4)

2. भावकश्च कविः इत्याचार्याः (वही अध्याय-4, पृ0-32)

3. तस्य कारणं केवला कविगता प्रतिभा । रसगंगाधर - अनान - प्रथम, पृ0 - 9

4. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
   काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।
   (का0प्र0 - 1/3)

तीनों ही काव्य उत्पत्ति के प्रति कारण है । व्युत्पत्ति, प्रज्ञा तथा निपुणता वस्तुतः पर्यायात्मक है । आचार्य मम्मट ने जिस तत्त्व की चर्चा निपुणता के रूप में की है वही वस्तुतः व्युत्पत्ति[1] है ।

अतः ग्रन्थों के अध्ययन से सुसंस्कृत व्युत्पत्ति, शब्द और अर्थ युक्त रचना के गुम्फन की क्षमता रूपी प्रज्ञा एवं प्रतिक्षण नये-नये विषयों को प्रसूत करने वाली शक्ति रूपी बुद्धि - जिसे प्रतिभा के रूप में स्वीकार किया गया है ये तीनों ही काव्य के प्रति कारण है किन्तु इतना अवश्य है कि इन्होंने भामह व दण्डी की भाँति प्रतिभा को व्युत्पत्ति व अभ्यास से संस्कारित होने की चर्चा की है ।[2]

व्युत्पत्ति का स्वरूप

अजित सेन के अनुसार छन्दशास्त्र, अलंकार शास्त्र, गणित, कामशास्त्र, व्याकरण शास्त्र, शिल्पशास्त्र, तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र एवं अध्यात्मशास्त्रों में गुरु परम्परा से प्राप्त उपदेश द्वारा अर्जित निपुणता को ही व्युत्पत्ति के रूप में स्वीकार किया है ।[3]

अजितसेन कृत व्युत्पत्ति विषयक विवेचन पर मम्मट का प्रभाव परिलक्षित होता है ।[4]

---

1. लौकिक व्यवहारेषु निपुणता व्युत्पत्तिः । अ०चि० पाठभेद टिप्पणी, पृ०-3

2. व्युत्पत्यभ्याससंस्कार्या शब्दार्थघटनाघटा ।
प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभास्यधीः ।। (अ०चि० 1/9)

3. छन्दोऽलङ्कारशास्त्रेषु गणिते कामतन्त्रके ।
शब्दशास्त्रे कलाशास्त्रे तर्काध्यात्मादितन्त्रके ।।
पारम्पर्योपदेशेन नैपुण्यपरशालिनी ।
प्रतिपत्तिर्विशेषेण व्युत्पत्तिरभिधीयते ।।
(वही - 1/10, 1/11)

4. शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुवर्गगजतुरग खड्गादि लक्षण ग्रन्थानां । काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम् आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद्व्युत्पत्तिः । (का०प्र० 1/3 वृत्ति)

प्रज्ञा का स्वरूप

अलंकार चिन्तामणि के टीकाकार डॉ0 नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार त्रैकालिकी बुद्धि को 'प्रज्ञा' के रूप में अभिहित किया गया है ।[1] प्रज्ञाविशिष्ट व्यक्ति को अतीत अन्तर्गत, व्यवहित अव्यवहित दूरस्थ - निकटस्थ, स्थूल तथा सूक्ष्म सभी विषयों का ज्ञान रहता है पातञ्जलयोग दर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] भोजवृत्ति के अनुसार सत्य को धारण करने वाली बुद्धि को ही ऋतम्भरा के रूप में स्वीकार किया गया है ।[3]

रूद्रकोश में नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को ही 'प्रतिभा' के पयार्य के रूप में स्वीकार किया गया है ।[4]

डॉ0 रेखा प्रसाद द्विवेदी ने काव्य घटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति को प्रसूत करने वाली बुद्धि को प्रतिभा कहा है । इनके अनुसार अर्थ का प्रतिभासन अर्थ से ही सम्भव है और भाव वस्तु सामयिक वस्तु तथा कल्पित विषयवस्तु का ज्ञान प्रतिभा से ही सम्भव है ।[5] इस दृष्टि से शक्ति तथा प्रतिभा में ऐक्य की प्रगति है ।

उक्त उद्धरणों के विवेचन से विदित होता है कि प्रज्ञा, प्रतिभा एवं शक्ति तीनों में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है प्रज्ञा में 'प्रज्ञा विशिष्ट बुद्धि' त्रैकालिक विषय दर्शन की क्षमता रखती है । प्रतिभा में नवनवोन्मेष भाववस्तु, सामयिक

---

1. त्रैकालिकीबुद्धिः प्रज्ञा । अ0चि0 प्रथम परिच्छेद, पृ0 तीन की पाद टिप्पणी
2. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । पातञ्जल योगदर्शन । 1/48
3. ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपिन विपर्ययेणाच्छाद्यते सा ऋतम्भरा प्रज्ञा तस्मिन् भवतीत्यर्थः । तस्माच्च प्रज्ञालोकात् सर्वं यथावत् पश्यन् योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति । वही - पृ0 - 81
4. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते । बालबोधिनी पाद टिप्पणी । पृ0-12
5. कारणं प्रतिभा काव्ये सा चार्थ-प्रतिभासनम् ।
   प्रज्ञाकादम्बिनी-गर्भे विद्युदुद्योत - सोदरम् ।।
   तथा वृत्ति । डॉ0 रेखा प्रसाद द्विवेदी, काव्यालंकार कारिका-2

वस्तु को नये-नये रूप से निरूपित करने का सामर्थ्य निहित रहता है तथा शक्ति में संस्कारवश कवित्वबीजरूप संस्कारविशेष का आधान रहता है ।

अभ्यास का स्वरूप

अजित सेन के अनुसार प्रतिदिन काव्यज्ञ गुरूओं के समीप में रहकर काव्य रचना करने की साधना करना अभ्यास कहलाता है । काव्य रचना सम्बन्धी कार्य विशेष में रहना ही अभ्यास के अन्तर्गत आता है ।[1]

आचार्य मम्मट ने भी काव्य संरचना में बार-बार होने वाली प्रवृत्ति को अभ्यास के रूप में स्वीकार किया है ।[2]

इसके अतिरिक्त अजितसेन ने काव्य रचना में जिज्ञासु व्यक्ति के लिए यह बताया है कि उसे नित्य ही मनुष्यों द्वारा देखे गए कार्य कलाप से छन्द का अभ्यास बिना किसी अर्थ विशेष के ही करना चाहिए । जैसे -

अम्भोभिः संभृतः कुम्भः शोभते पश्य भो सखे ।
शुभ्रः शुभ्रपटो भाति सितिमानं प्रपश्य भोः ।।

अ०चि० - 1/13

इसी सन्दर्भ में इन्होंने 'च' अव्यय की व्यवस्था,[3] यतिच्युति और श्लथ

---

1. गुरुणामन्तिके नित्यं काव्ये यो रचनापरः ।
   अभ्यासो भव्यते सोऽयं तत्कामः कश्चिदुच्यते ।।
   (अ०चि० - 1/12)

2. पौन पुन्येन प्रवृत्तिः (अभ्यासः) । (का०प्र० 1/3 वृत्ति) तथा बालबोधिनी - पृष्ठ - 13

3. चादयो न प्रयोक्तव्या विच्छेदात्परतो यथा ।
   नमो जिनाय शास्त्राय कुकर्मपरिहारिणे ।। अ०चि० 1/17

उच्चारण व्यवस्था,[1] तथा उत्सर्ग विच्छेद की व्यवस्था[2] का प्रतिपादन करने के पश्चात् यति माधुर्य की व्यवस्था[3] तथा यति माधुर्य को प्रतिपादित किया है ।[4]

अजितसेन के पूर्ववर्ती भामह, दण्डी, रुद्रट तथा मम्मट आदि किसी भी आचार्य ने अभ्यास स्वरूप का निरूपण इतने विस्तार से नहीं किया जितना कि अजित सेन ने किया है ।

इन्होंने योग्य कवि में प्रतिभा, वर्णन, क्षमता तथा अभ्यास - तीनों का होना आवश्यक बतलाया है ।[5]

आचार्य अजितसेन तक काव्य हेतु के सम्बन्ध में विद्वानों की मान्यताएं दृष्टिगोचर होती हैं -

1. रुद्रट तथा मम्मट ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों को सम्मिलित रूप से काव्य के हेतु के रूप में स्वीकार किया ।

---

1. (क) धातूनामविभक्तीनां क्वचिद्भेदे यतिच्युतिः ।
   मुक्ताक्षरपरत्वेऽपि श्लथोच्चार्याः क्वचिद्यथा ।।
   (ख) जिनेशपदयुगं वन्दे भक्तिभरसन्नतः ।
   समस्ताघविनाशं स्वामिनं धर्मोपदेशिनम् ।। वही - 1/18, 19
2. विकस्वरोपसर्गेण विच्छेदः श्रुतिसौरव्यकृत् ।
   यथाऽर्हत्पदयुग्मं प्रणमामि सुरपूजितम् ।। वही - 1/21
3. पदं यथा यथा तोषः सुधियामुपजायते ।
   तथा तथा सुमाधुर्यनिमित्तं यतिरूच्यते ।। वही - 1/22
4. भारती मधुराऽल्पार्थसहिताऽपि मनोहरा ।
   तमस्समूहसंकाशा पिकीव मधुरध्वनिः ।। वही - 1/12
5. प्रतिभोज्जीवनो नानावर्णननिपुणः कृती ।
   नानाभ्यास कुशाग्रीयमतिर्व्युत्पत्तिमान्कविः ।।
   अ०चि० - 1/8

2. आचार्य दण्डी पहले तो प्रतिभा, व्युत्पत्ति व अभ्यास के समुदाय को काव्य हेतु मानते हैं किन्तु उसके समानान्तर ही कि प्रतिभा न रहने पर भी व्युत्पत्ति (श्रुत) और अभ्यास (यत्न) से काव्य निर्माण में सफलता मिलती है ।

3. काव्य का हेतु मुख्यतः प्रतिभा है । व्युत्पत्ति व अभ्यास उसके संस्कारक हैं ।

इस मत के पोषक राजशेखर तथा आचार्य अजितसेन हैं ।

महाकाव्य के वर्ण्य विषय

आचार्य भामह, दण्डी तथा रूद्रट ने महाकाव्य के वर्ण्य विषय की चर्चा नहीं की है केवल गद्यकाव्य के स्वरूप का निर्धारण ही किया है ।[1] जिसमें प्रसंगतः महाकाव्य के वर्ण्य-विषयों का भी उल्लेख किया गया है । भामह के अनुसार महाकाव्य में सर्गबन्धता अपेक्षित है, मन्त्रणा, दूतप्रेषण, अभियान, युद्ध, नायक के अभ्युदय एवं पञ्चसन्धियो से समन्वित ~~अनति~~ व्याख्येय तथा ऋद्धि-पूर्णता की चर्चा की है । चतुर्वर्ग की प्रधानता होने पर भी उसमें अर्थ निरूपण का प्राधान्य तथा सभी रसों को के वर्णन का भी उल्लेख किया है । आचार्य दण्डी भी भामह की भाँति महाकाव्य को सर्गात्मक होना स्वीकार किया है तथा इसमें नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतुओं के वर्णन, सूर्योदय, चन्द्रोदय, चन्द्रास्त, सूर्यास्त, उद्यान विहार, जल-क्रीड़ा मधु-सेवन तथा संयोगादि के वर्णन की भी चर्चा की है । भामह की भाँति इन्होंने रससन्निवेश का उललेख किया है । इन्होंने विप्रलम्भ श्रृंगार, विवाह तथा कुमारोदय के वर्णन की चर्चा भी की है । शेष विषयों का वर्णन भामह के ही समान है ।

महाकाव्य के वर्ण्य विषय के निरूपण का श्रेय आचार्य अजितसेन को है । इनके अनुसार महाकाव्य में निम्नलिखित विषयों के वर्णन का उल्लेख किया गया है - राजा, राजपत्नी-महिषी, पुरोहित, कुल, श्रेष्ठ पुत्र या ज्येष्ठपुत्र,

---

1. (क) भामह-काव्यालंकार - 1/19-23
   (ख) दण्डी - काव्यादर्श - 1/14-22
   (ग)

अमात्य, सेनापति, देश ग्राम सौन्दर्य, नगर, कमल - सरोवर, धनुष, नद, वाटिका, वनोद्दीप्त, पर्वत, मन्त्र-शासन सम्बन्धी परामर्श, दूत, यात्रा, मृगया - आखेट, अश्व, गज, ऋतु, सूर्य, चन्द्र, आश्रम, युद्ध, कल्याण जन्मोत्सव, वाहन, वियोग, सुरत-रीतिक्रीड़ा, सुरापान, नाना प्रकार के क्रीड़ा - विनोद आदि महाकाव्य के वर्ण्य विषय हैं ।[1] इन्होंने महाकाव्य के वर्ण्य विषय के सन्दर्भ में नायक एवं रस-सन्निवेश का उललेख नहीं किया इसका कारण यही हो सकता है कि इन्होंने काव्य - स्वरूप के वर्णन में ही 'नेतृसद्वर्णनाढ्यम्' के द्वारा सद्गुणों से युक्त नायक वर्णन का उल्लेख कर दिया था तथा रस का उल्लेख भी इन्होंने काव्य के स्वरूप - विवेचन के सन्दर्भ में ही 'नवरसकलितम्' पद के द्वारा कर दिया था । साथ ही साथ आचार्य दण्डी ने जहाँ 'चतुवर्ग फलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्' (का0द0 - 1/15) का उल्लेख करके चतुर्वग फल-प्राप्ति की चर्चा की है वहीं अजितसेन ने 'लोकद्वन्द्वोपकारि तथा 'पुण्यधर्मोरूहेतुम्' का उललेख कर चतुर्वर्ग फलप्राप्ति के प्रति संकेत किया है क्योंकि इन्होंने काव्य को उभयलोक हितकारी बताया है ।

अतः महाकाव्य के वर्ण्य-वियष के सन्दर्भ में भले ही नायक के सद्वृत्त तथा रस आदि का उल्लेख न किया गया हो तथापि अजितसेन को भी महाकाव्य के सन्दर्भ में वर्णित उक्त विषय सादर स्वीकार हैं ।

अजितसेन के उक्त वर्णन का स्रोत दण्डीकृत काव्यादर्श के महाकाव्य के लक्षण में निहित है ।[2] परवर्ती काल में केशव मिश्र ने कवि सम्प्रदाय रत्न में काव्य में वर्णनीय जिन विषयों का उल्लेख किया है वे प्रायः अजितसेन कृत महाकाव्य विषयक वर्णन से प्रभावित हैं ।[3]

---

1. भूभुक्पत्नी पुरोधाः कुलवरतनुजामात्यसेनेशदेश -
ग्रामश्रीपत्तनाब्जाकरशरधिनदोद्यानशैलाटवीद्धाः ।
मन्त्रो दूतः प्रयाणं समृगतुरगेभर्वित्वनेन्द्वाश्रमाजि -
श्रीवीवाहा वियोगास्सुरतवरसुरापुष्कला नर्मभेदाः ।।

(अ0चि0 1/25)

2. दण्डी - काव्यादर्श - 1/14-22 चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1972

3. अलंकारशेखर - 6/1 पृष्ठ - 61 प्रकाशन - काशी संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी - 1927

राजा के वर्णनीय गुण

आचार्य अजितसेन के अनुसार - कीर्ति, प्रताप, आज्ञापालन, दुष्टनिग्रह - दुष्टों को दण्ड, शिष्ट पालन - सज्जनों की रक्षा, सन्धि, मेल-मिलाप, विग्रह - युद्ध, यान - आक्रमण, शस्त्र इत्यादि का पूर्ण अभ्यास, नीति, क्षमा, काम-क्रोधादि षड्रिपुओं पर विजय, धर्मप्रेम, दयालुता, प्रजाप्रीति, शत्रुओं को जीतने का उत्साह, धीरता, उदारता, गम्भीरता, धर्म-अर्थ-काम प्राप्ति के अनुकूल उपाय, साम-दाम-दण्ड-विभेद इत्यादि उपायों का प्रयोग, त्याग, सत्य सदा पवित्रता, शूरता, ऐश्वर्य और उद्योग आदि का वर्णन राजा के विषय में करना चाहिए । आशय यह है कि महाकाव्य में राजा का वर्णन आवश्यक है । कवि राजा के वर्णन में उपर्युक्त बातों का समावेश करता है ।[1]

परवर्ती काल में अजितसेन से प्रभावित होकर केशव मिश्र ने भी किञ्चित् शाब्दिक परिवर्तन के साथ उक्त राजगुणों का वर्णन किया है ।[2]

देवी-महिषी के वर्णनीय गुणः-

राजा के गुण-वर्णन के पश्चात् अजित सेन ने राजपत्नी या देवी के गुणों की चर्चा की है । उनके अनुसार - लज्जा, नम्रता, व्रताचरण सुशीलता, प्रेम, चतुराई, व्यवहारनिपुणता, लावण्य, मधुरालाप, दयालुता, श्रृंगार, सौभाग्य, मान, काम सम्बन्धी विविध चेष्टाएँ, पैर, तलवा, गुल्फ (एड़ी) नख, जंघा, सुन्दर घुटना, ऊरू,

---

1. नृपे यशः प्रतापाज्ञेऽसत्सन्निग्रहपालने ।
   संधि विग्रहयानादिशस्त्राभ्यासनयक्षमाः ।। 1/26
   अरिषड्वर्गजेतृत्वं धर्मरागो दयालुता ।
   प्रजारागो जिगीषुत्वं धैर्योदार्यगभीरताः ।। 1/27
   अविरूद्धत्रिवर्गत्वं सामादिविनियोजनम् ।
   त्यागसत्य सदाशौचशौर्यैश्वर्योद्यमादयः ।। 1/28

   अ0चि0 पृष्ठ - 7

2. अलंकारशेखर 6/1 तथा 6/2, पृष्ठ - 61-62

कटि, सुन्दर रोम पंक्ति, त्रिवलि, नाभि, मध्यभाग, वक्षस्थल, स्तन, गर्दन, बाहु, अंगुलि, हाँथ, दाँत, ओष्ठ, कपोल, आँख, भौंह, ललाट, कान, मस्तक, वेणी इत्यादि अंग प्रत्यंगों तथा गमनरीति एवं जाति आदि का वर्णन देवी - महिषी के सम्बन्ध में करना चाहिए ।[1] उक्त देवी विषय गुण वर्णन भरतकृत नाट्यशास्त्र से प्रभावित है[2] किन्तु नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख अत्यल्प है जबकि अजितसेन ने इसका सविस्तार वर्णन किया है ।

आचार्य अजितसेन से प्रभावित होकर कालान्तर में केशवमिश्र ने भी 'अलंकार शेखर' में देवी के गुणों का वर्णन कुछ परिवर्तन के साथ किया है ।[3]

राजपुरोहित के वर्णनीय गुणः-

आचार्य अजितसेन के मतानुसार - शकुन और निमित्तशास्त्र का ज्ञाता, सरलता, आपत्तियों को दूर करने की शक्ति सत्यवाणी, पवित्रता प्रभृति गुणों का

---

1. देव्यां त्रपा विनीतत्वव्रताचार सुशीलताः ।
   प्रेम चातुर्यदाक्षिण्यलावण्यकलनिस्वना ।। 1/29
   दयाशृंगारसौभाग्यमानमन्मथविभ्रमाः ।
   पन्नलोपरितद्गुल्फनखजङ्घासुजानुभिः ।। 1/30
   ऊरुश्रोणीसुरोमालीवलित्रितयनाभयः ।
   मध्यवक्षः स्तनग्रीवाबाहुसाङ्गुलिपाणयः ।। 1/31
   रदनाधरगण्डाक्षिभ्रूभालश्रवणानि च ।
   शिरोवेणीकबर्यादिगतिजात्यादिरेव च ।। 1/32 अ0चि0 पृ0 - 7

2. एभिरेव गुणैर्युक्ता सत्संस्कारैस्तुवर्जिताः ।
   गर्वितास्त्वपि सौभाग्यात् प्रीतिसम्भोग तत्पराः।।
   शुचिनित्योज्वलाकाराः प्रतिपक्ष्याभ्यसूयिकाः ।
   वयोरूपगुणाढयास्तु यास्ता देव्यः प्रकीर्तिताः ।।

   ना0शा0 34/35, 36

3. देव्यां सौभाग्यलावण्यशीलशृंगारमन्मथाः ।
   त्रपाचातुर्यदाक्षिण्यप्रेममानव्रतादयः ।।

   अलंकारशेखर 6/2 पृष्ठ - 62

वर्णन पुरोहित के विषय में करना अपेक्षित है ।[1] आचार्य विश्वनाथ ने पुरोहित के गुणों का अतिसूक्ष्म निर्देश किया है ।[2]

भरत, भामह, दण्डी, उद्भट्, रूद्रट, कुन्तक भोजादि आचार्यों ने उक्त विषयों की चर्चा नहीं की है । परवर्ती आचार्य मम्मट तथा जगन्नाथादि भी इस विषय में मौन है । डॉ० राजदेव मिश्र ने - 'पुरोहित को कुलीन, बुद्धिमान, नानाशास्त्रों के ज्ञाता, स्नेहशील, अप्रमत्त, लोभरहित, पवित्र, विनीत और धार्मिक प्रवृत्ति वाला बताया है' ।[3]

राजकुमार के वर्णनीय गुणः-

भारत, भामह, दण्डी आदि पूर्ववर्ती आचार्यों ने राजकुमार के गुणों का उल्लेख नहीं किया है । इसके निरूपण का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य प्रवर अजितसेन को है । उनके अनुसार - राजा की भक्ति, सौन्दर्ययुक्त, अनेक प्रकार की कलाओं का ज्ञान, बल, नम्रता, शस्त्र प्रयोग का ज्ञान, शास्त्र का अभ्यास, सुडौल हाथ, पैर आदि अंग एवं क्रीड़ा - विनोद प्रभृति का राजकुमार के सम्बन्ध में वर्णन करना चाहिए ।[4]

राजमन्त्री के वर्णनीय गुणः-

अजित सेन के अनुसार राजमन्त्री पवित्र विचार वाला, क्षमाशील, वीर, नम्र, बुद्धिमान, राजभक्त, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं का ज्ञाता, व्यवहारनिपुण एवं

---

1. पुरोहिते निमित्तादिशास्त्रवेदित्वमार्जवम् ।
   विपदां प्रतिकर्तृत्वं सत्यवाक्शुचितादयः ।।

   अलंकार चिन्तामणि ।/33, पृ0-8

2. ऋत्विक्पुरोधसः स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्मे । सा0द0 - 3/45

3. 'संस्कृत रूपको के नायक' - पृष्ठ - 96

4. कुमारे राजभक्ति श्रीकलाबल विनीतताः ।
   शस्त्रशास्त्रविवेकित्वबाह्यांगविहृतादय ।।

   अ0चि0 ।/34 पृ0 - 8

स्वदेश में उत्पन्न वस्तुओं के उद्योग में प्रयत्नशील अथवा स्वदेश में उत्पन्न और उद्योगशील के रूप में वर्णित किया गया है ।[1] अजितसेन के पूर्ववर्ती आचार्यधनिक ने मन्त्री को अर्थ चिन्तन में संलग्न तथा नायक का सहायक बताया है । मन्त्री अपने राज्य में किए गए कार्यों के प्रति उत्तरदायी होता है तथा अन्य राज्य में गुप्तचरों को भेजकर वहाँ के क्रिया कलाप का निरीक्षण करता रहता है ।[2] धीरललित नायक की सिद्धि पूर्णरूपेण मन्त्री द्वारा ही होती है ।[3] लक्ष्य ग्रन्थों में मन्त्री को उक्त गुणों से विशिष्ट बताया गया है ।[4] परवर्ती काल में आचार्य विश्वनाथ के अनुसार मन्त्री स्वराष्ट्र सम्बन्धी व्यवहार के सम्पादन में सहायता करता है । वह राजा का राजनीतिक सलाहकार भी होता है ।[5] विश्वनाथ कृत उक्त विवेचन धनञ्जय कृत उक्त लक्षण के समान है ।

सेनापति के वर्णनीय गुणः-

आचार्य अजितसेन के अनुसार निर्भय, अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास, शस्त्र-प्रयोग, अश्वादि की सवारी में पटु, राजभक्त महान परिश्रमी, विद्वान एवं युद्ध में विजय प्राप्त करने वाला इत्यादि विषयों का सेनापति के विषय में वर्णन करना चाहिये ।[6]

---

1. मन्त्री शुचिः क्षमी शूरोऽनुद्धतो बुद्धिभक्तिमान् ।
   आन्वीक्षिक्यादिविद्दक्षस्स्वदेशजहितोद्यमी ।।

   अ0चि0 1/35

2. (क) तस्य च महामहीपतेः -- स्वभावानुरक्तः, शुचिः सत्यपूतवाक् कृतज्ञः ब्राह्मणः सालंकायनस्य सूनुः श्रुतशीलो नाम महामन्त्री ।
   (ख) कादम्बरी - शुकनास वर्णन, नलचम्पू प्रथम उ0 पृ0-44

3. मन्त्री स्वं वोभयंवापि सखा तस्यार्थचिन्तने । दशरूपक - 2/42

4. मन्त्रिणा ललितः शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः । वही - 2/43

5. मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तयाम् । सा0द0 3/43 पूर्वार्द्ध पृ0 104, लक्ष्मी टीका

6. सेनापतिरभीरस्त्रशस्त्राभ्यासे च वाहने ।
   राजभक्तो जितायासः सुधीरपि जयी रणे ।। अ0चि0 1/36

नाट्यशास्त्र के प्रणेता महामुनि भरत ने सेनापति व अमात्य दोनों को धीरोदात्त प्रकृति का नायक बताया है ।[1] अतः भरत के अनुसार धीरोदात्त[2] में प्रतिपादित गुण का होना सेनापति में आवश्यक है । डॉ० राजदेव मिश्र ने सेनापति को शीलवान, प्रियभाषी, आलस्यहीन, वीर, देशकालज्ञाता, अनुरक्त और कुलीन बताया है ।[3]

देश के वर्णनीय विषयः-

आचार्य अजितसेन ने देश में पद्मरागादि मणियाँ, नदी, स्वर्ण, अन्न भण्डार, विशाल भूमि, गाँव, किला, जनबाहुल्य, नहर इत्यादि का वर्णन करना आवश्यक बताया है इससे देश की समृद्धशालिता का परिचय प्राप्त होता है ।[4] परवर्ती काल में विविध प्रकार के खनिज द्रव्यों, विक्रेताओं आदि से सुशोभित दुर्ग, ग्राम, जनादि के आधिक्य से परिवर्धित नदी मातृक आदि के रूप में वर्णित करने की चर्चा की है । जिसपर अधिकांशतः अजितसेन का प्रभाव परिलक्षित होता है ।[5]

ग्राम के वर्णनीय विषयः-

अजित सेन के अनुसार अन्न, सरोवर, लता-वृक्ष, गाय - बैल इत्यादि पशुओं की आधिक्य व उनकी चेष्टाओं का रमणीय वर्णन करना चाहिए । ग्रामीणों की सरलता, अज्ञानता, घटी यन्त्र आदि की शोभा का रोचक वर्णन काव्य के सौन्दर्य

---

1. सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तो प्रकीर्तितो । — ना०शा० 34/18
2. अविकत्थनःक्षमावानतिगम्भीरोमहासत्वः ।
   स्थेयान निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः । — सा०द० परि०-6
3. 'संस्कृत रूपको के नायक' - पृष्ठ-96
   (उद्धृत-नाट्यशास्त्र - 24/36-37)
4. देशे मणिनदीस्वर्णधान्याकरमहाभुवः ।
   ग्राम दुर्गजनाधिक्यनदीमातृकतादयः।। — अ०चि० 1/37 पृ०-8
5. देशे बहुखनिद्रव्यपव्य धान्यकरोद्भवाः ।
   दुर्गग्राम जनाधिक्यनदीमातृकतादयः ।।
   अलंकारशेखर 6/2

का अभिवर्धक होता है ।[1]

ग्राम के वर्ण्य विषय की चर्चा परवर्ती आचार्यों में केशवमिश्र ने भी की है । जिसे अजित सेन से भिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि अजित सेन ने जिन विषयों का प्रतिपादन किया है उन्हीं समस्त विषयों का केशवमिश्र ने भी प्रकारान्तर से उल्लेख किया है ।[2]

अजितसेन के पूर्ववर्ती भामह, दण्डी, रुद्रट आदि आचार्यों ने इसका उल्लेख नहीं किया परवर्ती आचार्यों ने भी प्रायः इसका उल्लेख नहीं किया है ।

नगर के वर्णनीय विषयः-

अजितसेन के अनुसार - चहारदीवारी उसका उपरिभाग, दुर्ग, प्राचीर, अट्टालिका खांई तोरण ध्वजा चूने से पुते बड़े-बड़े भवन, राजपथ बावड़ी, बगीचा जिनालय इत्यादि नगर के वर्ण्य विषय होते हैं ।[3] आचार्य अजितसेन कृत उक्त वर्णन पर न्यूनाधिक रूप से अग्निपुराण का प्रभाव परिलक्षित होता है ।[4] इस विषय पर केशव मिश्र ने भी अपना विचार व्यक्त किया है । जो प्रायः अजित द्वारा प्रतिपादित नगर वर्ण्य विषय के समान है । लक्ष्य ग्रन्थों में उक्त विषयों का रोचक वर्णन प्राप्त होता है ।[5]

---

1. ग्रामे धान्यसरोवल्लीतरुगो पुष्टि - चेष्टितम् ।
   ग्राम्यमौग्ध्यघटीयन्त्रे केदार परिशोभनम् ।। अ0चि0 1/38

2. ग्रामे धान्यलतावृक्षसरसीपशुपुष्टयः ।
   क्षेत्रादिह टट्केदारग्रामस्त्रीमुग्धविभ्रमाः ।।
   अलंकारशेखर 6/2 पृ0-62

3. पुरे प्राकारतच्छीर्षवप्राट्टालकखातिकाः ।
   तोरणध्वजसौधाध्वव्याप्यारामजिनालयाः ।।
   अ0चि0 1/39 पृ0-9

4. अग्निपुराणु अ0 339/ 24-27

5. (क) नलचम्पू - आर्यावर्तवर्णन - निषिधानगरी वर्णन-प्रथम उच्छवास।
   (ख) कादम्बरी - उज्जयिनी वर्णन ।

सरोवर के वर्णनीय विषयः-

आचार्य अजितसेन ने सरोवर में कमल, तरंग, कमल पुष्प तोड़ना, गज-क्रीड़ा, हंस-हंसी, चक्रवाक-भ्रमर तथा वीर प्रदेश में स्थित उद्यान लता, पुष्पादि के वर्णन की चर्चा की है ।[1]

अजितसेन के पूर्ववर्ती आचार्य राजशेखर ने भी जलाशय मात्र में हंसादिपक्षियों के वर्णन की चर्चा की थी । अतः अजितसेन के सरोवर विषयक वर्णन पर राजशेखर का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।[2]

परवर्ती काल में विश्वनाथ ने भी राजशेखर के विचार को सादर स्वीकार कर लिया ।[3]

समुद्र के वर्णनीय विषयः-

अजितसेन समुद्र में विद्रुम, मणि, मुक्ता, तरंग, जलपोत, जलहस्ति, मगर, नदियों का प्रवेश और संक्षोभ - चन्द्रोदय जन्म हर्ष, कृष्ण कमल, गर्जन इत्यादि का वर्णन करना आवश्यक बतलाया है ।[4] परवर्ती आचार्य केशवमिश्र ने भी उक्त वर्णनीय विषय का उल्लेख किया है । जिसपर आचार्य अजितसेन कृत समुद्र के वर्ण्य विषय का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।[5]

---

1. सरोवरेऽब्जभंगाम्बुलहरीगजकेलयः ।
   हंसचक्रद्विरेफाद्यास्तीरोद्यानलतादयः ।। अ0चि0 1/40
2. जलाशयमात्रेऽपि हंसादयः । काव्यमीमांसा - अध्याय 14, पृ0-198
3. तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति मरालादिकः पक्षिसम्भो । सा0द0 7/32
4. अब्धौ विद्रुममुक्तोर्मिपोतेभमकरादयः ।
   सरित्प्रवेशसंक्षोभकृष्णाब्जाध्मायितादयः ।। अ0चि0-1/41
5. अब्धौ द्वीपाद्रिरत्नोर्मिपोतयादोजलप्लवाः ।
   विष्णुः कुल्यागमश्चन्द्राद्वृद्धिरौर्वोऽब्द पूरणम् ।
   अ0शे0 - 6/2

नदी के वर्णनीय विषयः-

आचार्य अजितसेन ने नदी के वर्णन से समुद्र गमन, हंसमिथुन, मछली-कमल पक्षियों का कलरव तट पर उत्पन्न हुई लताएँ, कमलिनी - कुमुदनी इत्यादि विषयों को वर्णित करने का उल्लेख किया है ।[1] परवर्ती काल में आचार्य केशव मिश्र ने स्त्रियों और पथिकों के केलि वर्णन तथा तट पर वन वर्णन की चर्चा अधिक की है । शेष अंशों को शाब्दिक परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया ।[2]

उद्यान के वर्णनीय विषयः-

आचार्य अजितसेन के अनुसार उद्यान में कलिका, कुसुम, फल, लताओं से युक्त कृत्रिम पर्वतादि तथा कोयल, भ्रमर, मयूर, चक्रवाक एवं पथिक क्रीड़ा का वर्णन प्रशस्य बताया गया है ।[3] परवर्ती काल में केशव मिश्र ने पुष्प, लतादि के पंक्तिबद्ध होने की चर्चा की है । पीक, भ्रमर, हंस आदिको की क्रीड़ा तथा पथिको की विश्राम स्थली भी बताया है ।[4]

अतः केशव मिश्र का निरूपण अजितसेन से प्रभावित है ।

---

1. नद्यामम्बुधियायित्वं हंसमीनाम्बुजादयः ।
विरूतं तटवल्लर्यो नलिन्युत्पलिनीस्थितिः ।।

अ0चि0 - 1/42

2. सरित्यम्बुधियायित्वं वीच्यो वनगजादयः ।
पद्मानि षट्पदा हंसनक्राद्याः कूलशाखिनः ।।

अ0शे0 6/2, पृ0-62

3. उद्याने कलिकापुष्पफलवल्लीकृताद्रयः ।
पिकालिकेकिचक्राद्याः पथिकक्रीडनस्थितिः ।।

अ0चि0 - 1/43

4. उद्याने सरणिः सर्वफलपुष्पलतादयः ।
पिकालिके किहंसाद्याः क्रीडावाप्यध्वगस्थितिः ।

अ0शे0-6/2, पृष्ठ-63

पर्वत के वर्णनीय विषयः -

पर्वत के वर्णन प्रसंग में अजित ने बताया कि पर्वत के शिखर उसकी गुफाओं तथा उस पर उत्पन्न होने वाले बहुमूल्य रत्नों का वर्णन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इन्होंने वनवासी किन्नर, झरना, सानु, गैरिक आदि धातु तथा उच्च शिखर पर निवास करने वाले मुनियों तथा कुसुमों के आधिक्य का वर्णन किया है ।[1] इनके पूर्ववर्ती आचार्य राजशेखर ने भी पर्वतों पर समस्त प्रकार के रत्नों के उत्पत्ति के वर्णन का उल्लेख किया है ।[2]

परवर्ती काल में आचार्य केशवमिश्र ने मेघ, औषधि, धातु, वंश (बाँस) आदि का अधिक प्रतिपादन किया है शेष अजित सेन से प्रभावित है ।[3]

वन के वर्णनीय विषयः -

अजितसेन के अनुसार वन-वर्णन, प्रसंग में सर्प, सिंह, व्याघ्र, सूअर, हरिण तथा विविध तरूओं के साथ भालू, उल्लू इत्यादि का और कुञ्ज, वाल्मीकि एवं पर्वत इत्यादि का वर्णन करना आवश्यक है ।[4]

आचार्य केशव मिश्र कृत परिभाषा अजित सेन के समान है ।[5]

---

1. अद्रौशृंगगुहारत्नवनकिन्नरनिर्झराः ।
   सानुधातुसुकूटस्थमुनिवंशसुमोच्चयाः ।। अ0चि0 - 1/44
2. यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकं च । काव्यमीमांसा - अध्याय - 14, पृ0 - 198
3. शैले मेघौषधी धातुवंशकिन्नरनिर्झराः ।
   शृंगपादगुहारत्नवनजीवाद्युपत्यकाः ।। अ0शे0 - 6/2 पृ0-63
4. अरण्येऽहि हरिव्याघ्रवराह हरिणादयः ।
   द्रुमा भल्लूकघूकाद्या गुल्मवल्मीकपर्वताः ।। अ0चि0 - 1/45
5. अरण्येऽहि वराहेभयूथसिंहादयो द्रुमाः ।
   काकोलूककपोताद्या भिल्लभल्लूदवादयः ।।
   अ0शे0 - 6/2, पृ0 - 62

मन्त्र के अन्तर्गत वर्णनीय विषयः-

मन्त्र में कार्यारम्भ करने का उपाय, देश-काल का विभाग, पुरुष व द्रव्य सम्पत्ति, विघ्न प्रतीकार, कार्यसिद्धि - इन पाँचों अंगों, साम, भेद, दान और दण्ड - इन चार उपायों का, प्रभाव - उत्साह और मन्त्र इन तीन शक्तियों का वर्णन करना चाहिए ।[1]

दूत के वर्णनीय विषयः-

दूत का वर्णन करते समय उसकी स्वपक्ष तथा परपक्ष के वैभव तथा दोषादि का ज्ञान तथा वाक्चातुर्य का होना आवश्यक बताया गया है ।[2] भामह, दण्डी तथा उद्भट आदि आचार्यों ने इसका उल्लेख नहीं किया है ।

मनुस्मृति में राजदूत को सब शास्त्रों में कुशल इंगित आकार और चेष्टा से मन का भाव समझने वाला, पवित्र, चतुर और कुलीन कहा गया है । वह अनुरक्त, चतुर, मेधावी, देशकालवित्, रूपवान, निर्भीक और वाग्मी होता है । राजदूत ही बिछड़े हुओं को मिलाता है और मिले हुओं को छोड़ता है । वह ऐसा काम करता है जिससे शत्रुपक्ष का जन-बल छिन्न - भिन्न हो जाय ।[3]

---

2. मन्त्रे पञ्चांगतोपायशक्तिनैपुण्यनीतयः

अ०चि० - 1/46

2. दूते स्वपर(पक्ष)श्रीदोषवाक्कौशलादयः ।

अ०चि० - पृ० 10

3. मनुस्मृति 7/63, 64, 66 पृ० - 241 (भाषाप्रकाशटीका)

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् । मनुस्मृति
इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ।। 7/63
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ।। वही 7/64
दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ।। वही 7/66

विजय यात्रा के वर्णनीय विषयः-

अजित सेन के अनुसार शत्रु विजय के लिए की जाने वाली यात्रा के लिए घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूलि, रणभेरी, कोलाहल, ध्वज कम्पन्न या ध्वजाओं का लहराना, पृथ्वी-कम्पन, रथ, हाथी, उष्ट्र आदि के समूह - संघर्ष एवं सेना की गमन रीति का वर्णन करना अपेक्षित है ।[1]

परवर्ती काल में आचार्य केशव मिश्र ने प्रयाण के अवसर पर भेरिध्वनि, भूकम्प, धूलि तथा हाथिओं के चिग्घार, वणिक् - मण्डल, भयंकर नाद, शर-मण्डप तथा नदियों की आरक्तता के वर्णन की चर्चा की है तथा रथ, चक्र, चामर, केतु, ध्वजा, हाथी, योद्धा आदि के छिन्न होने और देवताओं के द्वारा की गयी पुष्प वृष्टि के वर्णन की चर्चा की है ।[2] इनके प्रतिपादन में प्रभाव के साथ - साथ नव्यता भी है । क्योंकि छत्र चामरादि के भंग होने की चर्चा अजितसेन ने नहीं की है ।

मृगया के वर्णनीय विषयः-

अजित सेन के अनुसार - हरिणों का भय, पलायन तथा बुरी दृष्टि से चितवन आदि का मृगया के वर्णन प्रसंग में वर्णन करना आवश्यक है ।[3] आचार्य

---

1. प्रयाणेऽश्वखुरोद्भूतरजोवाद्यरवध्वजाः ।
   भूकम्पो रथहस्त्यादिसंघट्टः पृतनागतिः ।।

   अ०चि० - 1/47

2. प्रयाणे भेरिनिस्वानभूकम्पबलधूलयः ।
   करभोक्षध्व जच्छत्रवणिक्शकटवेसराः ।।

   अलंकारशेखर - षष्ठरत्न - द्वितीयमरीचि
   पृष्ठ सं० - 63, काशी संस्कृत सीरीज 1927

3. मृगयायां मृगत्राससञ्चारादि - कुदृष्टिभिः ।
   कृतं संसारभीरुत्वजननाय वदेत् क्वचित् ।।

   अ०चि० - 1/48

केशव मिश्र ने भी मृगया वर्णन पर अपने विचार व्यक्त किए हैं - मृगया में वन्य प्राणियों के संचरण जुगाली तथा आखेटकों के नील परिधान का वर्णन करना चाहिए मृगों की अधिकता एवं मृग - त्रास का भी आखेट में महत्वपूर्ण स्थान है । हिंसक प्राणियों के प्रतिदोह तथा उनकी तीव्र गति का प्रतिपादन करना भी मृगया के वर्णन में औचित्यपूर्ण बताया गया है । इन्होंने आखेटकों के नील वेष की चर्चा करके, अजित सेन की अपेक्षा एक नवीन विचार प्रस्तुत किया है ।[1]

अश्व के वर्णनीय विषय:-

अजितसेन के अनुसार अश्व के वर्णन में तीव्र वेग, देवमणि, अश्व शुभ लक्षण, रेचकादि पाँच प्रकार की गतियाँ, वाह्लीक आदि जातियों तथा उच्चता आदि का वर्णन अपेक्षित है ।[2] इसकी चर्चा पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रायः नहीं की है । परवर्ती आचार्यों में केशव मिश्र के अनुसार - अश्व का वेग, औनत्य, तेज एवं उसके उत्तम लक्षण का निरूपण करना चाहिए । इसके अतिरिक्त उसकी जाति, वैचित्र्य, खुरोत्पारित धूलि - समूह का भी वर्णन करना चाहिए ।[3]

गज के वर्णनीय विषय:-

गज वर्णन के प्रसंग में - गज-मद तथा उन पर भ्रमरों का आकर्षण, गज - मुक्ता, गण्डस्थल तथा शत्रु निर्मित व्यूह को तोड़ने का वर्णन करना चाहिए ।[4]

---

1. मृगयायां च संचारो वागुरा नीलवेषता ।
   मृगाधिक्यं मृगत्रासो हिंस्रद्रोहो गतित्वरा ।।

   अ०शे० - 6/2 पृ० - 65

2. अश्वे वेगित्वसल्लक्षगतिजात्युच्चतादयः ।

   अ०चि० - 1/49

3. अश्वे वेगित्वमौन्नत्यं तेजः सल्लक्षणस्थितिः ।
   खुरोत्खातरजः प्रौढिजातिर्गतिविचित्रता ।।

   अ०शे० - 6/2

4. गजेऽरिव्यूहभेदित्वकुम्भमुक्तामदालयः ।

   अ०चि० - 1/49

आचार्य केशव मिश्र के अनुसार गज के कर्ण चापल तथा सहस्र योद्धाओं से युद्ध के प्रतिपादन करने की चर्चा इन्होंने अजितसेन से अधिक की है ।[1] शेष वर्णन में समानता है ।

ऋतुओं के वर्णनीय विषय

बसन्त ऋतुः-

बसन्त ऋतु में दोला मलयानिल, भ्रमर - वैभव की झंकार, कुड्मल की उत्पत्ति, आम्र, मधूक आदि वृक्ष, पुष्प, मञ्जरी एवं लता आदि का वर्णन करना चाहिए ।[2]

वसन्त ऋतु के वर्ण्य विषयों की चर्चा नाट्यशास्त्र, काव्यमीमांसा एवं अलंकारशेखर में भी की गयी है ।[3] अजितसेन कृत वर्णन एवं भरतमुनि कृत वर्णन में पर्याप्त साम्य है । राजशेखर एवं विश्वनाथ ने क्रमशः मालती तथा 'जाती' पुष्प के अभाव का ही वर्णन किया है ।[4]

---

1. गजे सहस्रयोधित्वमुच्चता कर्णचापलम् ।
   अरिव्यूहविभेदित्वं कुम्भमुक्तामदालयः ।।

   अ0शे0 - 6/2

2. मधौ दोलानिलालिश्री - झंकार-कलिकोद्गमाः ।
   सहकारविटप्यादि - सुमनोमञ्जरीलताः ।।

   अ0चि0 - 1/50

3. (क) प्रमोदजननारम्भैरूप - भोगैस्तथोत्सवैः ।
   वसन्तस्त्वभिनेतव्यो नानापुष्पप्रदर्शनात् ।।

   ना0शा0 - 26/32 पृ0 - 301

   (ख) तद्यथा न मालती वसन्ते । काव्यमीमांसा - पृ0 - 200

   (ग) सुरभौ दोलाकोकिलदक्षिणवातद्रुपल्लवोद्भेदाः ।
   जातीतरपुष्पचयाऽऽम्रमञ्जरीभ्रमरझंकाराः ।।

   अ0शे0 - 6/2, पृ0 - 64

4. न स्यात्जाती वसन्ते । सा0द0 - 7/25 पूर्वार्द्ध

ग्रीष्म ऋतुः -

भरतमुनि के अनुसार स्वेद, अपमार्जन, भू-ताप, व्यजन, वायु की उष्णता आदि को ग्रीष्म ऋतु के वर्णनीय विषय बताए गए हैं ।[1] भरतमुनि के पश्चात् अजित सेन ने इस विषय पर विचार किया । उन्होंने ग्रीष्म ऋतु में उष्मा, सरोवर, शुष्कता, पथिक, मृग-तृष्णा, मृग-मरीचिका, प्रपा (प्याउ) कूप व सरोवर से जल भरने वाली नारियों का वर्णन तथा मल्लिका पुष्प के वर्णन करने की चर्चा की।[2] भरत मुनि की अपेक्षा अजितसेन ने ग्रीष्म ऋतु के वर्णनीय विषयों को अधिक संख्या में परिगणित किया है । परवर्ती काल में अजितसेन के आधार पर ही केशव मिश्र ने इन विषयों का निरूपण किया है । जिस पर अजितसेन का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है ।[3]

वर्षा ऋतुः -

भरतमुनि ने वर्षा ऋतु के वर्ण्य विषय के सन्दर्भ में कदम्ब, निम्ब, कुटज आदि की हरीतिमा का इन्द्रगोप, नामक कीट विशेष तथा मयूरों के समूह के वर्णन की चर्चा की है । इसके अतिरिक्त मेघ समूह, मेघों का गम्भीर नाद, धारा प्रपात, विद्युत निर्घात - घोव, इष्ट व अनिष्ट के दर्शन आदि के वर्णन की चर्चा की है ।[4] भरतमुनि के पश्चात् अजित सेन ने भी वर्षा ऋतु के वर्ण्य

---

1. स्वेदापमार्जनाञ्चापि भूमितापैः सुवीजनैः ।
   उष्णाच्य वायोः स्पर्शाच्च ग्रीष्मं त्वभिनयेद् बुधः ।।
   ना0शा0 - 26/33
2. निदाघे मल्लिकातापसरः पथिकशोषिताः ।
   मरीचिकामृगभ्रान्तिः प्रपा तत्रत्ययोषितः । अ0चि0 - 1/51
3. ग्रीष्मे पाटलमल्लीतापसरः पथिकशोषबातोल्काः ।
   सक्तुप्रपाप्रयास्त्रीमृगतृष्णाम्रादिफलपाकाः ।। अ0शे0 - 6/2
4. कदम्बनिम्बकुटजैः शाद्वलैः सेन्द्रगोपकैः ।
   कदम्बकैर्मयूराणां प्रावृषं संनिरूपयेत् ।।
   मेघौघनादगम्भीरधाराप्रपतनैरपि ।
   विद्युन्निन्नर्घातघोषैश्च वर्षरात्रं विनिर्दिशेत् ।।
   यद्यञ्च चिह्नं वेषो वा कर्म वा रूपमेव वा ।
   ऋतुः स तेन निर्देश्य इष्टानिष्टार्थदर्शनात् ।। ना0शा0 - 26/34-37

विषयों का उल्लेख किया है । इन्होंने वर्षा ऋतु में मेघ, मयूर, वर्षा कालीन सौन्दर्य झंझावात वृष्टि के जलकण फुहार व जलपात, हंसों का निर्गमन, केतकी कदरबादि की कलिकाएं और उसके विकास का चित्रण करने की चर्चा की है ।[1] इन्होंने कदम्ब, निम्ब तथा कुटज का वर्णन नहीं किया है । जो भरत कृत नाट्यशास्त्र में अधिक है । आचार्य केशव मिश्र द्वारा निरूपित विषय वस्तुओं पर अजितसेन का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।[2]

शरद ऋतु:-

नाट्यशास्त्र के अनुसार शरद् ऋतु में सभी इन्द्रियों की स्वस्थता, दिशाओं की स्वच्छता तथा विचित्र कुसुमों के सौन्दर्य के वर्णन करने का निर्देश दिया गया है ।[3] अजितसेन कृत शरद् ऋतु के वर्ण्य विषयों का निरूपण भरतमुनि की अपेक्षा नवीन है । इनके अनुसार शरद् ऋतु में चन्द्रमा व सूर्य की किरणों की स्वच्छता के वर्णन करने की बात कही गयी है । हंसो के आगमन, वृषभादि पशुओं की प्रसन्नता, धन, कमल, सप्तपर्णादि पुष्पों का एवं जलाशय आदि की स्वच्छता के प्रतिपादन की भी चर्चा की है ।[4] केशव मिश्र कृत निरूपण भरत व अजित सेन कृत वर्णन से प्रभावित है ।[5]

---

1. वर्षासु घनकेकिश्रीझञ्झानिलसुवा:कणा: ।
   हंसनिर्गतिकेतक्य: कदम्बमुकुलादय: ।।
   अ0चि0 - 1/52

2. वर्षासु घनशिखिस्मयहंसगमा: पंककन्दलोद्भेदौ ।
   जातीकदम्बकेतकझञ्झानिलनिम्नगाहलिप्रीति: ।।
   अ0शे0 - 6/2

3. सर्वेन्द्रियस्वस्थतया दिक्प्रसन्नतया तथा ।
   विचित्रकुसुमालोकै: शरदं तु विनिर्दिशेत् ।।
   ना0शा0 - 26/27

4. शरदीन्द्विनसुव्यक्तिहंसपुंगवहृष्टय: ।
   शुभ्राभ्रस्वच्छवा पद्मसप्तच्छदजलाशया: ।
   अ0चि0- 1/53

5. शरदीन्दुरविपटुत्वं जलाच्छताऽगस्त्यहंसवृषदयर्पा: ।
   सप्तच्छदा: सिताभ्राब्जरुचि: शिखिपक्षमदपाता: ।।
   अ0शे0 - 6/2

हेमन्त ऋतु:-

आचार्य अजितसेन ने हेमन्त ऋतु में हिमयुक्त लताओं, मुनियों की तपस्या एवं कान्ति आदि के वर्णन का उल्लेख किया है ।[1] पूर्ववर्ती आचार्य भरतमुनि के अनुसार सिर, दाँत, ओष्ठ का कम्पन, गात्र संकोचन, सीत्कार आदि का वर्णन करना चाहिए ।[2] अजितसेन कृत वर्णन में भरतमुनि की अपेक्षा नवीनता दृष्टिगोचर होती है । आचार्य केशव मिश्र के अनुसार हेमन्त ऋतु में दिन की लघुता, शीताधिक्य, यव की वृद्धि आदि का वर्णन करना प्रशस्य बताया गया है ।[3]

शिशिर ऋतु के वर्णनीय विषय:-

भरत के अनुसार शिशिर ऋतु में पुष्पों में पराग और सुगन्ध का वर्णन अपेक्षित बताया गया है । इसी सन्दर्भ में इन्होंने वायु की रूक्षता का प्रतिपादन करने का संकेत किया है ।[4] आचार्य अजितसेन ने भरत की अपेक्षा एक नये विषय के वर्णन की चर्चा की है जिसमें शिरीष व कमल के पुष्प का विनाश बताया गया है ।[5] परवर्ती आचार्य केशव मिश्र ने शिशिर ऋतु के वर्ण्य विषय के सन्दर्भ में कुन्दसमृद्धि तथा गुड की सुगन्धि की चर्चा की है[6] जिसका उल्लेख भरतमुनि तथा अजितसेन ने भी नहीं किया है ।

---

1. हेमन्ते हिमसंलग्नलतामुनितपः प्रभा ।

अ0चि0 - 1/54 का पूर्वार्द्ध

2. गात्र संकोचनेनापि सूर्याग्निपटवेशनात् ।
हेमन्तस्त्वभिनेयः स्यात् पुरुषैर्मध्यमोत्तमैः ।।
शिरोदन्तोष्ठकम्पेन गात्रसंकोचनेन च ।
कूजितैश्च ससीत्कारैरेधमः शीतमादिशेत् ।।

ना0शा0 26/28, 29

3. हेमन्ते दिनलघुता मरुवकयववृद्धि शीतसम्पत्तिः ।

अ0शे0 - 6/2

4. मधुदानात्तु पुष्पाणां गन्धघ्राणैस्तथैव च ।
रूक्षाश्च वायोः स्पर्शाश्च शिशिरं रूपयेद् बुधः ।।

ना0शा0 - 26/31

5. शिशिरे च शिरीषाब्जदाहशैत्यप्रकृष्टयः ।

सूर्य के वर्णनीय विषयः-

सूर्य के वर्ण्य विषय के प्रसंग में आचार्य अजितसेन ने उसकी अरुणिमा, कमल का विकास, चक्रवाको की आँखों की प्रसन्नता, अन्धकार का नाश कुमुदिनी का संकोचन, तारा - चन्द्रमा - दीपक की प्रभावहीनता एवं कुटलाओं की पीड़ा आदि के चित्रण का उल्लेख किया है ।[1] परवर्ती आचार्य केशव मिश्र के अनुसार सूर्य में अरुणता चक्रवाक पक्षियों की प्रीति, कमल, पथिकों की प्रसन्नता आदि का वर्णन आवश्यक बताया है ।[2]

चन्द्रमा के वर्ण्य विषयः-

अजित सेन के अनुसार चन्द्रमा के वर्णन में मेघ, कुलटा चकवा चकवी चोर अंधकार व वियोगिनियों की मर्मव्यथा तथा उज्ज्वलता, समुद्र कैरव और चन्द्रकान्तमणि की प्रसन्नता का वर्णन अपेक्षित है ।[3] जबकि केशव मिश्र ने कुलटा, चक्रवाक पक्षी, कमल चोर तथा विरह के वर्णन में चन्द्रमा को कष्टवर्धक बताया है तथा चकोर, चन्द्रकान्तमणि तथा दम्पत्ति के लिये इसे प्रीति वर्धक बताया है ।[4] केशव मिश्र कृत विवेचन अजितसेन कृत विवेचन की अपेक्ष किञ्चिद् अधिक है ।

---

1. द्युमणावरूणत्वाब्जचक्रवाकाक्षिहृष्टयः ।
   तमः कुमुदतारेन्दुप्रदीपकुलटार्तयः ।।

   अ0चि0 1/55

2. सूर्येऽरुणतारविमणिचक्राम्बुजपथिकलोचनप्रीतिः ।
   तारेन्दुदीपकौषधि धूकतमश्चौरकुमुदकुलटार्तिः ।।

   अ0शे0 - 6/2

3. चन्द्रेऽभ्रकुलटाचक्रचोरध्वान्तवियोगिनाम् ।
   आर्तिरुज्ज्वलता - वार्धिकैरवेन्द्वश्महृष्टयः ।।

   अ0चि0 - 1/56

4. चन्द्रे कुलटाचक्राम्बुजचौरविरहितमोऽर्तिरौज्ज्वल्यम् ।
   जलधिजननेत्रकैरवचकोरचन्द्राश्मदम्पत्तिप्रीतिः ।।

   अ0शे0 - 6/2 पृ0 - 63

आश्रम के वर्णनीय विषयः-

अजितसेन के अनुसार आश्रम के चित्रण में मुनियों के समीप सिंह हाथी और हिरण आदि की शान्तता, सभी ऋतुओं में प्राप्त होने वाले फल-पुष्पादि की शोभा एवं इष्टदेव के पूजन आदि का चित्रण करना अपेक्षित है ।[1] आचार्य केशव मिश्र ने आश्रम में अतिथि पूजा, एण-मृग का विश्वास पूर्वक गमन करना, हिंसक पशुओं की प्रशान्तता, यज्ञधूम का वर्णन, मुनि सुता का वर्णन, वृक्ष सेचन वल्कल द्रुमादि का वर्णन आवश्यक बताया है ।[2] आचार्य केशव मिश्र कृत वर्णन अजितसेन कृत आश्रम वर्णन के समान ही है ।

युद्ध के वर्णनीय विषयः-

अजित सेन के अनुसार युद्ध का वर्णन करते समय तूर्य आदि वाद्यों की ध्वनि, तलवार आदि की चमक, धनुष की प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाना, छत्रभंग, कवचभेदन गज, रथ एवं सैनिकों का वर्णन करना आवश्यक है ।[3] केशव मिश्र के अनुसार युद्ध में वर्म, तूर्य - निर्घात, शर - मण्डप, नदियों की आरक्तता छत्र, रथ, चामर, ध्वज गज आदि की छिन्नता - भिन्नता का प्रतिपादन तथा देवताओं के द्वारा की गयी विजय कालीन पुष्प वृष्टि का वर्णन करना चाहिए ।[4]

---

1. आश्रमे मुनिपादान्ते सिंहेभैणादिशान्तता ।
   सर्वर्तुफलपुष्पादिश्रीरंगीकृतपूजनम् ।।

   अ०चि० - 1/57

2. आश्रमेऽतिथिपूजैणविश्वासो हिंस्रशान्तता ।
   यज्ञधूमो मुनिसुता द्रुसेको वल्कलं द्रुमाः ।।

   अ०शे० - 6/2

3. युद्धे तूर्यनिनादासिस्फुलिंगशरसंधयः ।
   छिन्नातपत्रवर्मेभरथध्वजभटादयः ।।

   अ०चि० - 1/58

4. युद्धे तु वर्मबलवीररजांसि तूर्य -
   निर्घातनादशरमण्डपरक्तनद्यः ।
   छिन्नातपत्ररथचामरकेतुकुम्भि
   योधाः सुरीवृतभटाः सुरपुष्पवृष्टिः ।।

   अ०शे० - 6/2, पृ० - 63

जन्म कल्याण के वर्णनीय विषयः-

जन्म कल्याण का वर्णन करते समय गर्भावतरण आदि का वर्णन और जन्माभिषेक के समय एरावत हाथी, सुमेर, पर्वत, समुद्र देवों की जय ध्वनि तथा विद्याधरों का जन्मोत्सव में सम्मिलित होना आदि विषयों का वर्णन करना चाहिए।[1] इसका निरूपण पूर्ववर्ती आचार्यों ने नहीं किया । परवर्ती आचार्यों में भी जयदेव दीक्षित विश्वनाथ विद्यानाथ जगन्नाथादि ने इस विषय पर कहीं भी किसी प्रकार की चर्चा नहीं की ।

विवाह के वर्णनीय विषयः-

अजित सेन के अनुसार विवाह का वर्णन करते समय स्नान शरीर की स्वच्छता, अलंकार, सुमधुर गीत, विवाह मण्डप, वेदी, नाटक नृत्य एवं वाद्यों की विविध ध्वनियों का निरूपण करना आवश्यक बताया गया है ।[2] केशव मिश्र ने भी प्रायः इन्हीं विषयों का वर्णन करने का निर्देश दिया है ।[3]

विरह के वर्णनीय विषयः-

विरह के वर्णन करते समय उष्ण निःश्वास, मानसिक चिन्ता, शरीर की दुर्बलता, शिशिर ऋतु में गर्मी की अधिकता, रात्रि जागरण, खुशी व प्रसन्नता

---

1. जनमे नामकल्याणगर्भावतरणादिकम् ।
   तत्रेन्द्रदन्तिमेर्वब्धिश्रेणीसुररवादयः ।।

   अ०चि० - 1/59

2. विवाहे स्नानशुभ्रांगभूषाशोभनगीतयः ।
   विवाहमण्डपो वेदी नाट्यवाद्यरवादयः ।।

   अ०चि० - 1/60

3. विवाहे स्नानशुद्धांगभूषा तूर्यत्रयीरवाः ।
   वेदीसंगीतहोमादिलाजमंगलवर्णनम् ।।

   अ०शे० - 6/2

के अभाव का चित्रण अपेक्षित बताया गया है ।[1]

केशव मिश्र ने भी अजितसेन द्वारा प्रतिपादित विषयों में से कुछ विषयों को स्वीकार किया है व कुछ नवीन विषयों का उल्लेख भी किया है । इन्होंने विरह में चिन्ता, मौनता, कृशांगता, रात्रि की दीर्घता, जागरण तथा शिशिर ऋतु की उष्णता आदि वर्णन करने का निर्देश दिया है ।[2]

सुरत के वर्णनीय विषयः-

अजितसेन के अनुसार शीतकाल, कण्ठालिंगन, नख-क्षत, दन्त-क्षत, करधनी, कंकण, मञ्जीर की ध्वनि और स्त्री पुरुष की विपरीत रति का वर्णन करने का निर्देश दिया है ।[3] केशव मिश्र के विचार अजितसेन से अभिन्न है ।[4]

स्वयंवर के वर्ण्य विषयः-

अजितसेन के अनुसार स्वयंवर वर्णन के अवसर पर सुन्दर नगाड़ा, मञ्च-मण्डप, कन्या तथा स्वयंवर में पधारे हुए राजाओं के वंश, प्रसिद्धि, यश,

---

1. विरहे तापनिःश्वासमनश्चिन्ताकृशांगताः ।
   शिशिरौष्ण्यनिशादैर्घ्य जागराहासहानयः ।।

   अ०चि० - 1/61

2. विरहे तापनिश्वासचिन्तामौनकृशांगताः ।
   अब्दसंख्या निशादैर्घ्य जागरः शिशिरोष्णता ।

   अ०शे० - 6/2

3. सुरते सीत्कृतिग्रीवानखदन्तक्षतादयः ।
   काञ्चीकंकणमञ्जीरखमत्यार्यितादयः ।।

   अ०चि० - 1/62

4. सुरते सात्विकाः भावाः सीत्काराः कुड्मलाक्षता ।
   काञ्चीकंकणमञ्जीरखोरदनखक्षते ।।

   अ०शे० - 6/2

सम्पत्ति, रूप - लावण्य, आकृति, प्रभृति का चित्रण करना अपेक्षित बताया है ।[1] आचार्य केशव मिश्र ने इस विषय में अजितसेन का अनुकरण किया है ।[2]

मदिरापान के वर्ण्य विषयः-

मदिरापान के अवसर पर भ्रमर को लक्ष्य कर भ्रान्ति और प्रेमादि का स्पष्ट वर्णन करना चाहिए । महापुरुष मदिरा को रागादि दोष के उत्पादक होने के कारण उसे नहीं पीते हैं । मदिरापान के वर्णन प्रसंग में व्यंग्य और सूच्य द्वारा प्रेम, रति एवं अन्य क्रिया व्यापारों का उललेख करना आवश्यक है।[3] केशव मिश्र के अनुसार सुरापान में विकलता, वचन तथा गति में स्खलन, नेत्रों की आरक्तता, लज्जा व मान का अभाव तथा प्रेमाधिक्य के प्रतिपादित करने को आवश्यक बताया है ।[4] अजितसेन ने व्यंग्य व प्रीति को सूच्य बतलाया है जबकि केशव मिश्र ने इसका उल्लेख नहीं किया है ।

पुष्पावचय के वर्ण्य विषयः-

अजित के अनुसार पुष्पावचय के अवसर पर परस्पर वक्रोक्ति, गोत्र-स्खलन, कहना कुछ चाहते हैं पर मुख से कुछ और ही निकलता है, परस्पर

---

1. स्वयंवरे सुसन्नाहो मञ्चमण्डपकन्यकाः ।
   तस्या भूपान्वयख्याति - सम्पदाकारवेदनम् ।।

   अ0चि0 - 1/63

2. स्वयंवरे शचीरक्षा मञ्चमण्डपसज्जता ।
   राजपुत्रीनृपाकारान्वयचेष्टाप्रकाशनम् ।।

   अ0शे0 - 6/2

3. मधुपानेऽलिमाश्रित्य भ्रमप्रेमादिरुच्यताम् ।
   महान्तो न सुरां दूष्यां पिबन्ति पुरुदोषतः ।।

   अ0चि0 - 1/64

4. सुरापाने विकलता स्खलनं वचने गतौ ।
   लज्जामानच्युतिः प्रेमाधिक्यं रक्ताक्षता भ्रमः ।।

   अ0शे0 - 6/2

आलिंगन एवं रागभावपूर्वक अवलोकन इत्यादि का वर्णन करना अपेक्षित है ।[1] केशव मिश्र के अनुसार पुष्पावचय के समय गोत्र - स्खलन, वक्रोक्ति संभ्रम तथा आश्लेष आदि वर्णन करना चाहिए ।[2] अजितसेन तथा केशव मिश्र दोनों के वर्ण्य विषय प्रायः समान हैं ।

जल क्रीड़ा के वर्ण्य विषयः-

जल - क्रीड़ा के अवसर पर जल संक्षोभ जलमंथन हंस व चक्रवाक का वहाँ से हटना, धारण किए हुए हार आदि अलंकार का गिर पड़ना, जल कण-जल सीकर युक्त मुख एवं श्रम इत्यादि का वर्णन करना चाहिए ।[3] केशव मिश्र ने पद्म-म्लानि तथा नेत्रों की आरक्तता को भी प्रतिपादित करने की बात कही है जिसका उल्लेख अजित सेन ने नहीं की है शेष अंशों में दोनों के उक्त वर्ण्य विषय समान हैं ।[4] अन्य आचार्यों के अनुसार काव्य के वर्ण्य -विषय-

विषयः-

इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य आचार्यानुमोदित अठारह प्रकार के विषयों का उल्लेख किया है[5] जो निम्न लिखित है -

1. चन्द्रोदय
2. सूर्योदय

---

1. पुष्पोचयने पुष्पावचयो वक्रसूक्तयः ।
   गोत्रस्खलनमाश्लेषः परस्परविलोकनम् ।। अ०चि० - 1/65
2. पुष्पावचये पुष्पावचयः पुष्पार्पणार्थने दयिते ।
   मालागोत्रस्खलने क्रोधो वक्रोक्तिसंभ्रमाश्लेषाः ।। अ०शे० - 6/2
3. अम्भः केलौ जलक्षोभो हंसचक्रापसर्पणम् ।
   भूषाच्युतिपयोबिन्दुलग्नास्य जलजश्रमाः ।। अ०चि० - 1/66
4. जलकेलौ सरः क्षोभश्चकहंसापसर्पणम् ।
   पद्मम्लानिः पयः क्षेपोऽक्षिरागो भूषणच्युतिः ।। अ०शे०-6/2, पृ०-65
5. चन्द्रार्कोदयमन्त्रद्तसलिलक्रीड़ाकुमारोदयो ।
   द्यानाम्भोधिपुरर्तुशैलसुरताजीनांप्रयाणस्य च ।।
   वर्णयत्वं मधुपाननायकपदव्योर्विप्रलम्भस्य च ।

3. मन्त्र

4. दूत

5. जल क्रीड़ा

6. राजकुमार का अभ्युदय

7. उद्यान

8. समुद्र

9. नगर

10. वसन्तादि ऋतुएँ

11. पर्वत

12. सुरत

13. युद्ध

14. यात्रा

15. मदिरापान

16. नायक नायिका की पदवी

17. वियोग

18. विवाह

उक्त अठारह विषयों का उल्लेख किन आचार्यों ने किया - इसका अजितसेन ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है ।

शिलामेघसेन कृत 'स्वभाषालंकार' तथा दण्डी कृत काव्यादर्श में नायक-नायिका की पदवी को छोड़कर प्रायः सभी विषयों का उल्लेख किया गया है ।[1] इसके अतिरिक्त इन्होंने यह भी बताया है कि वर्णन करने में निपुण कवि स्वयं

---

1. (क) नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः । उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ।।
विप्रलम्भैः विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः । मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ।।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् । सर्गैरनतिविस्तीर्णैः सुसन्धिश्रव्यवृत्तकैः ।।
लोकस्य रञ्जकं काव्यं जायते कविभूषणम् ।
चिरस्थायि मनोहारि जयदायि निरन्तम् ।।

बौद्धालंकारशास्त्रम् भाग दो
(स्वभाषालंकार - 1/23-26)

(ख) काव्यादर्श - 1/15-19

विचार करके विषय वस्तु का चित्रण करें । तो विषय समर्चनीय होगा क्योंकि यहाँ वर्णन की दिशा मात्र का ही प्रदर्शन किया गया है इसे वर्ण्य विषयों की चरम-सीमा न समझनी चाहिए ।[1]

कवि समय के भेद

कवि समय की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाओं में इसका अधिक उपयोग किया है । भामह, उद्‌भट, दण्डी आदि आलंकारिक आचार्यों ने इस विषय पर विवेचन नहीं किया है, प्रत्यतु लोक और शास्त्रविरूद्ध विषयों के वर्णन को काव्यदोष माना है । राजशेखर ने इस विषय पर सर्वप्रथम और विस्तृत विमर्श किया है तथा इसे एक व्यवस्थित रूप दे दिया है । इसका कारण यह प्रतीत होता है कि कुछ लोगों ने कवि समय के नाम पर मनमानी प्रारम्भ कर दी थी । अतः उसकी विवेचना भी आवश्यक हो गयी थी । वामन ने 'कविशिक्षा'[2] नामक प्रकरण में इस विषय की चर्चा की है ।

आचार्य राजशेखर ने कवि समय को तीन भागों में विभाजित किया है -

1. स्वर्ग, 2. भौम, 3. पातालीय । जिनमें 'भौम' कवि समय को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है । भौम कवि समय का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण इसे चार भागों में विभाजित किया गया है -

1. जाति रूप, 2. द्रव्य रूप, 3. गुणरूप तथा 4. क्रियारूप ।

---

1. वर्ण्यदिङ्.मात्रता प्रोक्ता यथालङ्.कारतन्त्रकम् ।
   वर्णनाकुशलैश्चिन्त्यमनेकविधमस्ति तत् ।।

   अ0चि0 - 1/67

2. 'काव्यालंकारसूत्र' - पञ्चम अधिकरण, अध्याय - पांच, सूत्र - 1-17

इन चार प्रकार के अर्थों में प्रत्येक के तीन - तीन भेदों का उल्लेख किया है । (1) असत् का उल्लेख, (2) सत् का भी अनुल्लेख, (3) नियम ।[1]

जो पदार्थ शास्त्र व लोक में देखा या सुना न गया हो - काव्य-रचना में उसका उल्लेख करना असत् का निबन्धन है ।

शास्त्र या लोक दोनों में वर्णित पदार्थ का उल्लेख न करना - सत् का अनिबन्धन है ।

शास्त्र व लोक के नियमों से नियन्त्रित एवं बहुधा व्यवहृत पदार्थ का उल्लेख करना नियम है ।

आचार्य राजशेखर ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है -

असत् का निबन्धन

(1) जातिगत अर्थ में असत् का निबन्धन-जैसे नदियों में कमल - कुमुदादि का वर्णन, जलाशय में हंस - सारसादि का वर्णन सभी पर्वतों में सुवर्ण रत्नादि का वर्णन करना ।[2]

(2) **द्रव्यगत असत् का निबन्धन** - जैसे अन्धकार का मुष्टि-ग्राह्यत्व, सूची भेदत्व, चांदनी का घड़ों में भरा जाना आदि ।[3]

---

1. काव्यमीमांसा अध्याय - 14, पृष्ठ - 197
2. वही - पृष्ठ - 198
3. वही - पृष्ठ - 202, अ0 - 14

(3) **असत् क्रियागत निबन्धन-** जैसे रात्रि में चकवा - चकवी का जलाशय के भिन्न तटों पर पृथक रहना और चकोरों का चन्द्रिकापान करना ।[1]

(4) **असत् गुणों का निबन्धन** - यथा यश और हास्य की शुक्लता का प्रतिपादन, अयश, पापादि का कृष्णरूप वर्णन, क्रोध, अनुरागादि की रक्तता का वर्णन करना आदि के वर्णन करने की चर्चा की है ।[2]

सत् के अनिबन्धन

1. जातिगत अर्थ में सत् का अनिबन्धन:-

जैसे वसन्त में मालती के होने पर भी उसका वर्णन न करना, चन्दन के वृक्षों में पुष्प व फल का वर्णन न करना, अशोक के फलों का वर्णन न करना[3] मकरादि का समुद्र के ही जल में वर्णन करना, ताम्रपर्णी नदी में ही मोतियों का वर्णन करना आदि ।[4]

2. द्रव्यगत अर्थ में सत् का अनिबन्धन:-

कृष्णपक्ष में चाँदनी के होने पर भी उसका वर्णन न करना और उसी प्रकार से शुक्ल पक्ष में अन्धकार के रहने पर भी उसका वर्णन न करना ।[5]

3. क्रियागत अर्थ में सत् का निबन्ध एवं क्रियागत अर्थ में सत् का अनिबन्धन-

जैसे दिन में नील-कमलों का विकास न होना, रात्रि में शेफालिका के कुसुमों का न गिरना कवि समयानुमोदित है ।[6]

---

1. काव्यमीमांसा - पृष्ठ - 205
2. वही - पृष्ठ 209
3. वही - पृष्ठ - 200
4. वही - पृष्ठ - 201
5. वही - पृष्ठ - 206
6. वही - अ0 14, पृष्ठ - 206

4. **गुणगत अर्थ में सत् का अनिबन्धनः-**

जैसे - कुन्दन की कलियों एवं कामिनियों के दाँतों का रक्त - वर्ण कमल कलिकाओं का हरित - वर्ण और प्रियंगु पुष्पों का पीत - वर्ण, लोक प्रसिद्ध है परन्तु काव्यों में कवि - समय के अनुसार उनका श्वेत एवं श्याम वर्ण में वर्णन किया जाना चाहिए ।[1]

नियम के निबन्धन

1. **द्रव्यगत नियम का निबन्धनः-**

जैसे - मलयाचल में ही चन्दन की उत्पत्ति और हिमालय में ही भूर्ज-पत्रों का होना द्रव्यगत नियम है ।[2] इसके अतिरिक्त इन्होंने कुछ प्रकीर्णक द्रव्यों में भी कवि समय के सिद्धान्त को स्वीकार किया है - जैसे - क्षीर और क्षार समुद्र, सागर और महासागर की एकता ।[3]

2. **क्रियागत नियम का निबन्धनः-**

ग्रीष्म और वर्षा में ही होने वाले कोकिल - शब्द का केवल वसन्त में ही वर्णन और प्रायः सभी ऋतुओं में होने वाले मयूर नृत्य व मयूर शब्द का केवल वर्षा में ही वर्णन करने का नियम है ।[4]

3. **गुणगत नियम का निबन्धः-**

सामान्यतः काव्य - रचना में माणिक्य का वर्ण ताल, पुष्पों का श्वेत तथा मेघों का कृष्ण किया जाता है ।[5] कृष्ण और नील का, कृष्ण और हरित का, कृष्ण और श्याम का, पीत व रक्त का एवं शुक्ल और गौर वर्ण का समान रूप से वर्णन करना चाहिए ।[6]

---

1. काव्यमीमांसा - पृष्ठ - 2010
2. वही - पृष्ठ - 204
3. वही - पृष्ठ - 204
4. वही - पृष्ठ - 207
5. वही - पृष्ठ - 212, अध्याय - 15
6. वही - पृष्ठ - 213

इन्होंने जातिगत नियम का उल्लेख मात्र किया है इसके उदाहरण नहीं दिए ।

इसके अतिरिक्त स्वर्ग - पातालीय कवि - रहस्य की भी स्थापना की है । पार्थिव कवि - समय की भाँति स्वर्गीय कवि - समय भी है । जो इस प्रकार है -

1. चन्द्रमा में खरगोश व हरिण की एकता ।[1]

2. कामदेव के ध्वज चिन्ह को कहीं मकर और कहीं मत्स्य के रूप में वर्णित करना ।[2]

3. चन्द्रमा की उत्पत्ति अत्रि ऋषि के नेत्र से तथा कहीं समुद्र से वर्णित करना ।[3]

4. अनंग काम का मुक्तरूप से वर्णनकरना ।[4]

5. द्वादश आदितयों को एक ही समझना ।[5]

6. नारायण व माधव की एकता ।[6]

7. दामोदर, शेष व कूर्मादि में तथा कमल व सम्पदा में एकता ।[7]

8. नाग व सर्प की एकता ।[8]

9. दैत्य दानव व असुर तीनों भिन्न जाति के हैं जैसे - हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, विरोचवति, बाण आदि दैत्य है । विप्रचित्ति, शंबर, नमुचि ,

---

1. काव्यमीमांसा - पृष्ठ - 218, अध्याय - 16
2. वही - पृष्ठ - 219
3. वही - पृष्ठ - 220
4. वही - पृष्ठ - 221
5. वही - पृष्ठ - 222
6. वही - पृष्ठ - 222
7. वही - पृष्ठ - 230
8. वही - पृष्ठ - 223

पुलोम आदि दानव है और बल, वृत्र, वृषपर्वा आदि असुर हैं । महाकवि बाणभट्ट ने कादम्बरी के मंगलाचरण में तीनों का एक ही रूप में वर्णन किया है ।[1]

उपर्युक्त निरूपण से विदित होता है कि आचार्य राजशेखर ने पार्थिव-कवि - समय का जाति, द्रव्य, क्रिया तथा गुण रूप में विभाजित कर इनके असत्, सत् तथा नियम के अनिबन्धन तथा निबन्धनादि का उल्लेख किया है परन्तु स्वर्ग पातालीय वर्ग में वर्णित विषयों में इस प्रकार का विभाजन नहीं किया गया । इस वर्ग में केवल द्रव्यगत विषयों का ही प्रायः उल्लेख है । इसका आशय यह है कि जाति, द्रव्य, क्रिया और गुण का निबन्धन पार्थिव पदार्थों के समान ही स्वर्गपातालीय पदार्थों में ही करना चाहिए ।

आचार्य राजशेखर के पश्चात् आचार्य अजितसेन ने कवि समय का वर्णन विस्तार से किया है । आचार्य राजशेखर ने जाति, द्रव्य, क्रिया एवं गुण रूप पदार्थों को पृथक करके उनके अनिबन्धन तथा निबन्धन की चर्चा की है । जबकि अजितसेन ने असत् के निबन्धन, सत के अनिबन्धन तथा नियम से होने वाले निबन्धन की चर्चा की है ।[2]

1. **असत् में सत् वर्णन सम्बन्धी कवि समय का उदाहरणः-**

सभी पर्वतों पर रत्नादि की उपलब्धि, छोटे-छोटे जलाशयों में भी हंसादि पक्षियों का वर्णन, जल में तारकावली का प्रतिबिम्ब, आकाश गंगा एवं अन्य नदियों में भी कमल आदि की उत्पत्ति का वर्णन लोक या शास्त्र में देखा या सुना न जाने के कारण कवियों का असत् निबन्ध - असत् पदार्थों का वर्णन कहलाता है ।[3]

---

1. काव्यमीमांसा पृष्ठ - 224, अध्याय - 16
2. कवीनां समयस्त्रेधा निबन्धोऽप्यसतस्सतः ।
   अनिबन्धस्सजात्यादेर्नियमेन समासतः ।।

   अ०चि० - 1/69
3. गिरौ रत्नादि - हंसादि - स्तोकपद्माकरादिषु ।
   नीरेभाद्यंखगंगायां जलजाद्यं नदीष्वपि ।।

   अ०चि० - 1/70

अन्धकार को सुई से भेदन करने योग्य, उसका मुष्टि ग्राह्यत्व, ज्योत्स्ना-चन्द्रकिरणों को अञ्जलि में पकड़ने योग्य अथवा घड़ों में भरने योग्य इत्यादि तथ्यों का वर्णन करना असत् वस्तुओं का वर्णन करना ही कहा जायेगा ।[1]

2. असद् वर्णन रूप कविसमय का अन्य उदाहरण:-

जैसे प्रताप के वर्णन में उसे रक्त या उष्ण कहना, कीर्ति में हंसादि की शुक्लता, अयश में कालिमा, क्रोध और प्रेम की अवस्था में रक्तिमा का वर्णन करना असत् वर्णन कवि समय है । कवि समय के अनुसार प्रताप को रक्त, कीर्ति को शुक्ल, अपयश को कृष्ण एवं क्रोध - प्रेम को अरूण माना जाता है ।[2]

समुद्र की चार संख्या, चकवा - चकवी का रात्रि में वियोग, चकारे पक्षी और देवताओं का चन्द्रिका में निवास का वर्णन, असद् वर्णन के अन्तर्गत है। कवि समयानुसार रात्रि में चकवा - चकवी का वियोग, चकोर पक्षी द्वारा ज्योत्स्ना का पान एवं चन्द्रमा में देवों का निवास माना गया है ।[3] लक्ष्मी का कमल तथा राजा के वक्षस्थल पर निवास, समुद्र - मन्थन एवं समुद्र - मन्थन से चन्द्र की उत्पत्ति का वर्णन असद् वस्तु - वर्णन कवि समय है ।[4]

3. सद्वस्तुओं की अनुपलब्धि सम्बन्धी कवि समय का उदाहरण:-

जैसे - चन्दन वृक्ष में फल और पुष्प के होने पर भी उसका वर्णन नहीं करना, वसन्त ऋतु में मालती कुसुम के होने पर भी उसका वर्णन नहीं करना,

---

1. तमसः सूच्यभेदत्वं मुष्टिग्राह्यत्वमुच्यते ।
   अञ्जलिग्राह्यता चन्द्रत्विषःकुम्भोपवाह्यता ।। अ0चि0 - 1/71

2. प्रतापे रक्ततोष्णत्वे कीर्तौ हंसादिशुभ्रता ।
   कृष्णत्वमपकीर्त्यादौ रक्तत्वंकोपरागयोः ।। अ0चि0 - 1/72

3. चतुष्टत्वं समुद्रस्य वियोगः कोकयोर्निशि ।
   चकोराणां सुराणां च ज्योत्स्नावासौ निगद्यते । अ0चि0 - 1/73

4. रमायाः पद्मवासित्वं राज्ञो वक्षसि च स्थितिः ।
   समुद्रमथनं तत्र सुरेन्द्र श्रीसमुद्भवः ।। अ0चि0 - 1/74

शुक्ल पक्ष में अन्धकार के रहने पर भी उसका वर्णन नहीं करना, कृष्णपक्ष में चन्द्र ज्योत्स्ना के रहने पर भी उसका वर्णन न करना एवं अशोक वृक्ष में फल होने पर भी उसका वर्णन नहीं करना सद्वस्तु के अनुल्लेख सम्बन्धी कवि समय है ।

कामी नर - नारियों के दांतों में लाली, कुन्द - कुसुम में हरीतिमा और रात्रि में विकसित होने वाले कुमुद इत्यादि के दिन में विकसित होने पर भी वर्णन न करना सद् वस्तु का अनुल्लेख होने से कवि समय है ।[1] अनेक स्थानों में प्रचलित व्यवहारों का किसी विशेष स्थान में वर्णन करना और अन्यत्र रहने पर भी वर्णन नहीं करना - सद्वस्तु का अनुल्लेख होने से कवि समय है ।

नियमेन उल्लेख रूप कवि समय का उदाहरण:-

अन्य वस्तुओं के श्वेत होने पर भी सामान्यतया पत्र, पुष्प, जल ओर वस्त्र की शुक्लता, अन्य पर्वतों पर चन्दन की उपलब्धि होने पर भी मलयाचल पर चन्दन का वर्णन, अन्य ऋतुओं में कोयल की ध्वनि होने पर भी वसन्त ऋतु में ही उसका वर्णन करना नियमेन उल्लेख रूप कवि - समय है ।

मेघ, समुद्र, काक, सर्प, केश, भ्रमर में ही कृष्णता एवं बिम्बाफल, बन्धूक पुष्प, मदिरा और सूर्य के बिम्ब में रक्तता का वर्णन सद्वस्तुओं का नियमेन उल्लेख रूप कवि समय है ।[2]

---

1. चन्दने फलपुष्पे च सुरभौ मालतीसुमम् ।
   शुक्ले पक्षे तमोऽशुक्ले ज्योत्स्नाफलमशोकके ।।
   रक्तिमा कामिदन्तेषु हरितत्वं च कुन्दके ।
   दिवानिशोत्पलाब्जानां विकासित्वं न वर्ण्यताम् । वही-1/75-76

2. सामान्येन तु धावल्यं पत्रपुष्पाम्बुवाससाम् ।
   चन्दनं मलयेष्वेव मधावेव पिकध्वनिम् ।।
   अम्बुदाम्बुधिकाकाहिकेशभृंगेषु कृष्णताम् ।
   बिम्बबन्धूकनीरेषु सूर्यबिम्बे च रक्तताम् ।। अ0चि0-1/77-78

यद्यपि अन्य ऋतुओं में भी मयूर बोलते और नृत्य करते हैं, तो भी वर्षा ऋतु में ही उनके बोलने और नृत्य करने का उल्लेख करना, अन्य ऋतुओं में नहीं - नियमेन उल्लेख की दूसरी विलक्षणता कही जायेगी ।[1]

ऐरावत हाथी को श्वेत वर्णित करना, भुवन तीन, सात या चौदह मानना, दिशाएँ चार, आठ या दस मानना, सद्‌वस्तु का नियमेन उल्लेख रूप कवि समय है ।[2]

आचार्य राजशेखर द्वारा निरूपित वर्ण्य विषयों और अजितसेन द्वारा निरूपित वर्ण्य विषयों में पर्याप्त साम्य होते हुए भी अजितसेन कृत वर्ण्य विषयों में राजशेखर की अपेक्षा आधिक्य है ।

आचार्य केशव मिश्र ने गुणवर्णन रूप कवि समय का सर्वाधिक उल्लेख किया है ।[3] इसके अतिरिक्त इन्होंने एक से लेकर सहस्र तक की संख्या वाली वस्तुओं का भी उल्लेख किया है । जिसकी चर्चा राजशेखर अजितसेन आदि ने नहीं की है ।[4]

साहित्य दर्पण के लक्ष्मी टीकाकार श्री कृष्ण मोहन शास्त्री कतिपय विषयों के निबन्धन को वैकल्पिक बताया है । जैसे - कमला और सम्पत् की

---

1. रवं नाट्यं मयूराणां वर्षास्वेव विवर्णयेत् ।
   नियमस्य विशेषोऽन्यः कश्चिदत्र प्रकाश्यते ।।

   अ०चि० - 1/79

2. शुभ्रमिन्द्रद्विपं ब्रूयात्त्रीणि सप्त चतुर्दश ।
   भुवनानि चतस्रोऽष्टौ दश वा ककुभो मताः ।

   अ०चि० - 1/80

3. **श्वेतानियथा -**
   श्वेतानिचन्द्रशक्राश्वशम्भुनारदभार्गवाः ।
   हलीशेषाहिशक्रेमो सिंहसौधशरद्घनाः ।।
   सूर्येन्दुकान्तनियमोकमन्दारद्रुहिमाद्रयः ।
   हिमहासमृणालानि स्वर्गगेभरदाभ्रकम ।।

क्रमशः - -

की एकता, कृष्ण तथा हरित वर्णों, नाग तथा सर्प, पीत तथा लोहित, स्वर्ण पराग तथा अग्नि शिखा आदि में, चन्द्रमा में खरगोश तथा एड़मृग की कामदेव के ध्वज वर्णन में मकर तथा मत्स्य की, दानव, सुर तथा दैत्य के एकत्व का प्रतिपादन

यथा नीलानि -

सिकताऽमृतलोध्राणि गुणकरैवशर्करा: ।
नीलानिकृष्णचन्द्रंकव्यासरामधनञ्जया: ।।
शनिद्रुपदजा काली राजपट्टं विदूरजम् ।
विषाकाश कुहूशास्त्राऽगु रुपापतमोनिशा: ।।
रसावद्भुतश्रृंगारौ मदतापिच्छराहव: ।
सीरिचीरं यमोरक्ष: कण्ठ: खञ्जनकेकिनो: ।।

यथा शोणानि -

कृत्या छाया गजांगारखलान्त: करणादय: ।
शोणानि क्षात्रधर्मश्च त्रेता रौद्ररसस्तथा ।।
चकोरकोकिलापारा वतनेत्रं कपेर्मुखम् ।
तेज: सारसमस्तं च भौमकुंकुमतक्षका: ।।

यथापीतानि -

जिह्वेन्द्रगोपखद्योतविद्युत्कुञ्जरबिन्दव: ।
पीतानि दीपजीवेन्द्रगरुडेश्वरदृग्जटा: ।।
ब्रह्मा वीररसस्वर्णकपिद्वापररोचना: ।
किञ्जल्कचक्रवाकाद्या हरितालं मन:शिला ।।

यथा धूसराणि -

धूसराणि रजो लूता करभो गृहगोधिका ।
कपोतभूषिकौ दुर्गा काककण्ठखरादय: ।।

यथा हरिता: -

हरिता: सूर्यतुरगाबुधो मरकातादय: । इत्यापि बोद्धव्यम् ।
द्वैरूप्ये चाऽप्रसिद्धौ च नियमोऽयमुदाहृत: ।
अन्यद्वस्तु यथा यत्स्यात् तत्तथैवोपवर्ण्यते ।।

अलंकारशेखर-षष्ठ रत्न-द्वितीय मरीचिका, पृ0 66-67

वैकल्पिक अभीष्ट है ।[1] कृष्ण मोहन का उक्त विवेचन राजशेखर की काव्य-मीमांसा के स्वर्ग-पातालीय कवि रहस्य में परिगणित कवि नियमों से प्रभावित है ।[2]

आचार्य अजितसेन ने असत् के निबन्धन सत् के अनिबन्धन तथा सनियम निबन्धन के निरूपण के पश्चात् यमक, श्लेष व चित्रकाव्य सम्बन्धी सामान्य व्यवस्थाओं का भी निरूपण किया है ।

यमक श्लेष व चित्रकाव्य सम्बन्धी व्यवस्थाः-

यमक, श्लेषालंकार और चित्रकाव्य में व ब, ड ल और र ल वर्णो की परस्पर एकता मानी जाती है । भिन्नता नहीं । चित्रकाव्य में विसर्ग और अनुस्वार परिगणित नहीं होते हैं । अर्थात् अनुस्वार और विसर्ग की अधिकता होने पर भी चित्रालंकार नष्ट नहीं होता ।[3]

काव्य रचना के नियमः-

अजितसेन ने कवियों के लिए काव्य के आरम्भ में शुभ वर्णो और गणों

---

1. विकल्पेन निबन्धनं यथा -

   (क) कमलासम्पदोः कृष्णहरितोर्नागसर्पयोः ।
   पीतलोहितयोः स्वर्णपरागाग्निशिरवादिषु 2
   चन्द्र शशैणयोः कामध्वजे मकरमत्स्ययोः ।
   दानवासुरदैत्यानामैक्यमेवाभिसंहितम् ।।

   सा0द0 - लक्ष्मी टीका पृ0-560, पाद टिप्पणी, सप्तमपरिच्छेद

   (ख) रलयोर्डलयोस्तद्वल्लवयोर्बवयोरपि ।
   नमयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः ।।
   सबिन्दुकाबिन्दुकयोः स्यादभेदेनकल्पनम् ।
   यमकं तु विधातव्यं कथञ्चिदपि न त्रिपात् ।।

   विद्याधर - एकावली 7/7

2. काव्यमीमांसा - अध्याय - 16

3. वबौ डलौ रलौ चैते यमके श्लेषचित्रयोः ।
   न भिद्यन्ते विसर्गानुस्वारौ चित्राय न मतौ ।।

   अ0चि0 - 1/81

के प्रयोग के विषय में भी निर्देश दिया है । इस परम्परा का परिपालन करने से काव्यपाठ की सन्तुति व सम्पत्ति का विनाश नहीं होता ।[1] अमृतानन्दयोगी ने भी अजितसेन के उक्त विचार से सहमत हैं ।[2]

वर्णों का शुभाशुभत्व विवेचन

झ, ज, च, छ, ट, ठ, ढ, ण, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व और द में ये वर्ण अ और क्ष के बिना अन्य वर्णों के साथ संयुक्त रहने पर काव्यादि में इनका प्रयोग अशुभ माना जाता है तथा उक्त वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्णों का संयोग काव्यारम्भ में शुभकारक होता है ।[3] इस विषय पर अमृतानन्दयोगी ने भी अपने विचार व्यक्त किए हैं ।[4] अजितसेन तथा अमृतानन्दयोगी दोनों ही आचार्यों ने बिन्दु, विसर्ग, जकार, ञकार को पादादि में व्याज्य बताया है ।[5]

---

1. वर्णभेदंविजानीयात्कविः काव्यमुखेपुनः । सद्वर्णं सद्गणं कुर्यात्संपत्संतानसिद्धये।।
   वर्ण्यवर्णकयोर्लक्ष्मीः शीघ्रमेवोपजायते । अन्यथैतद्द्वयस्यापिदुःखसंततिरञ्जसा ।।
   अ0चि0-1/84-85

2. वर्णं गणं च काव्यस्य मुखे कुर्यात्सुशोभनम् ।
   कर्तृनायकयोस्तेन कल्याणमपि जायते ।। अलंकारसंग्रह - 1/23
   अन्यथानिष्टसंपत्तिरनयोरेव संभवेत् ।

3. झाज्जाच्चाच्छाट्टठाभ्यां ढणथपबभमैराल्लवात्पाद्दलाभ्याम् ।
   संयुक्तेऽक्षं विना स्यादशुभमितरतो वर्णतोभद्रमिद्धम् ।।
   अ0चि0 - 1/85 1/2

4. आभ्यां भवति संप्रीतिर्मुदीभ्यांधनमूद्वयात् ।
   ऋभ्यां लृभ्यामपङ्ख्यातिरेचः सुखकरा मता ।। अ0सं0 - 1/25

5. (क) बिन्दु सर्गौ पदादौ न कदाचन जञौपुनः ।
   भषान्तावपि विद्येते काव्यादौ न कदाचन ।।
   अ0चि0 - 1/87

   (ख) बिन्दुसर्गङ्.ञाः सन्ति पदादौ न कदाचन ।
   चतुर्भ्यः कादिवर्णेभ्यो लक्ष्मीरपयशस्तु चात् ।।
   अलंकारसंग्रह - 1/26

गणों के देवता और उनका फल

मगण के देवता भूमि, नगण के स्वर्ग, भगण के जल, और मगण के देवता चन्द्रमा है । इन चारो गणों को मांगलिक माना गया है । इनका काव्यारम्भ में प्रयोग शुभकारक है । तगण के देवता आकाश, जगण के सूर्य, रगण के अग्नि और सगण के देवता पवन हैं । ये चारों अशुभ हैं, अतः काव्यारम्भ में इनका प्रयोग वर्जित है । तगण को मध्यस्थ अर्थात् सामान्य माना गया है ।[1]

अमृतानन्दन योगी भी उक्त विचार से सहमत हैं ।[2]

काव्य के प्रारम्भ में स्वरवर्णों के प्रयोग का फल

काव्य के प्रारम्भ में 'अ' या 'आ' के होने से अत्यन्त प्रसन्नता, इ या ई के होने से आनन्द, उ या ऊ के होने से धनलाभ, ऋ, ॠ , ऌ ॡ के होने से अपयश एवं ए, ऐ, ओ औ के रहने से कवि, नायक तथा पाठक को महान् सुख होता है ।[3]

---

1. मोभूर्नोगौर्यभौवाः शशधरयुगलं मंगलंतोऽशुभः खं- ।
   जोरस्सोभासुरग्निः पवन इदमभद्रं त्रयं चादिकानाम् ।।
   मगणादीनां भूरित्यादयोऽधिदेवताः ।
   बिन्दुसर्गौ पदादौन कदाचन जञौ पुनः ।।
   भषान्तावपि विद्येते काव्यादौ न कदाचन । अ0चि0-1/86-87

2. यो वारिरूपो धनकृद्रोऽग्निर्दाहभयंकरः ।
   ऐश्वर्यदो नाभसस्तोभः सौम्यः सुखदायकः ।।
   जःसूर्यो रोगदः प्रोक्तः सो वायण्यः क्षयप्रदः ।
   शुभदो मो भूमिमयो नो गौर्धनकरो मतः ।।

   अलंकारसंग्रह - 1/33-34

3. आभ्यां संप्रीतिरीभ्यामुद्भवेदूभ्यां धनं पुनः ।
   ऋलॄ चतुष्टयतोऽकीर्तिरिचः सौख्यकरा स्मृताः ।।

   अ0चि0 - 1/88

आचार्य अमृतानन्दयोगी भी स्वर वर्णों के प्रयोग पर अपना विचार व्यक्त किया है जो प्रायः अजितसेन के विचार से अभिन्न है ।[1]

काव्यादि में व्यञ्जन वर्णों के प्रयोग का फल

काव्य के प्रारम्भ में क, ख, ग, घ के रहने से लक्ष्मी, चकार के रहने से अयश, छकार रहने से प्रीति और सुख दोनों की प्राप्ति तथा जकार के रहने से मित्रलाभ होता है । काव्यादि में झ के रहने से भय तथा त के रहने से कष्ट, ठ के रहने से दुःख, ड के रहने से शुभ फल, ढ के रहने से शोभाहीनता, द के रहने से भ्रान्ति, ण के रहने से सुख, त और थ के रहने से युद्ध एवं द और ध के रहने से सुख की प्राप्ति होती है ।

काव्य के प्रारम्भ में 'न' के रहने से प्रताप की वृद्धि, पवर्ग के रहने से भय, सुख की समाप्ति, कष्ट और जलन, य के होने से लक्ष्मी की प्राप्ति, रेफ के रहने से जलन एवं ल और व के रहने से अनेक प्रकार की आपत्तियों की उपलब्धि होती है ।

काव्यारम्भ में श के रहने से सुख, ष से कष्ट, स के रहने से सुख, ह से जलन, ल से नाना प्रकार के क्लेश और क्ष के रहने से सभी प्रकार की वृद्धि होती है ।

इस प्रकार सत्य फल के प्रदान करने वाले सभी वर्णों का विवेचन किया गया है । तैल और कर्पूर के सम्मिश्रण के समान अशुभाक्षरों का संयोग काव्यादि में सर्वथा त्याज्य है ।[2]

---

1. आभ्यांभवति संप्रीतिर्मुदीभ्यां धनमूद्वयात् ।
   ऋभ्यां लृभ्यामपख्यातिरेचःसुखकरामताः ।। अलंकारसंग्रह - 1/25

2. कादिवर्णचतुष्काच्छ्रीरपकीर्तिश्चकारतः। छकारात्प्रीतिसौख्ये द्वे मित्रलाभो जकारतः।।
   झाद्भीमृत्यू ततः खेदष्ठाद्दुःखं शोभनं तु डात्। ढोऽशोभादो भ्रमोणात्तु सुखं तात्थाद्रणंदधो।।
   सुखदौ नात्प्रतापो भीः सुखान्तक्लेशदाहदः। पवर्गो याद्रमा रेफाद्दाहो व्यसनदो लवौ।।
   शषाभ्यां सुखखेदौ च सहौ च सुखदाहदौ। लस्तु व्यसनदः क्षस्तु सर्ववृद्धिप्रदो भवेत् ।।
   एवं प्रत्येकमुक्तास्ते वर्णास्सत्यफलप्रदाः। त्याज्यः स्याद्वर्णसयोगस्तैलकर्पूरयोगवत्।।
   अ0चि0- 1/89-93

आचार्य अमृतानन्द योगी ने भी काव्य में व्यञ्जन वर्णों के प्रयोग की चर्चा की है । इस विषय में अमृतानन्दयोगी आचार्य अजित सेन का अनुगमन करते हैं ।[1]

वर्णों के प्रयोग और उनका फलादेशः-

अभीष्ट और अनिष्ट फल देने वाले प्रत्येक गण के फल को अवगत कर लेना चाहिए । काव्यारम्भ में यगण का प्रयोग होने से धन की प्राप्ति, रगण के रहने से भय और जलन तथा तगण के होने से शून्य फल की प्राप्ति होती है अर्थात् सुख और दुःख प्राप्त नहीं होते, सर्वथा फलाभाव रहता है ।

काव्यादि में भगण के होने से सुख, जगण के प्रयोग से रोग, सगण से विनाश, नगण के प्रयोग से धनलाभ और मगण के प्रयोग से शुभ फल की प्राप्ति होती है ।

देवता, भद्र या मंगल प्रतिपादक शब्द कवियों द्वारा निन्द्य नहीं माने गये हैं । आशय यह है कि अशुभ और निन्द्य वर्ण या गण भी देवता, भद्र और मंगलवाचक होने पर त्याज्य नहीं हैं ।

---

1. बिन्दुसर्गाङ्.ञाः सन्ति पदादौ न कदाचन ।
चतुर्भ्यः कादिवर्णेभ्यो लक्ष्मीरपयशस्तु चात् ।।
प्रीतिः सौख्यं च छान्मित्रलाभौ जो भयमृत्युकृत् ।
झष्टठाभ्यां खेददुःखे शोभाशोभाकरौ डढौ ।।
भ्रमणं णात्सुखं तात्रु थाद्युद्धं सुखदौ दधौ ।
नः प्रतापी भयासौख्यभरणक्लेशदाहकृत् ।।
पवर्गो यस्तु लक्ष्मीदो रो दाही व्यसनं लवौ ।
शः सुखं तनुते षस्तु खेदं सः सुखदायकः ।।
हो दाहकृद्व्यसनदो लः क्षः सर्वसमृद्धिदः ।
एवं प्रत्येकतः प्रोक्तं वर्णानां वास्तवं फलम् ।।
संयोगः सर्वथा त्याज्यो वर्णानां क्षं विनामुखे ।
शुद्धमप्यन्यसंयुक्तमशुद्धमुपजायते ।।

अलंकारसंग्रह - 1/26-31

प्रवर कवियों द्वारा गण अथवा वर्ण से भी भद्र, मंगल आदि अर्थ के प्रतिपादन करने वाले शब्द अशुभ फलप्रद नहीं माने गये । अतः वे काव्यादि में निन्द्य नहीं है ।[1]

आचार्य अजितसेन द्वारा प्रतिपादित उक्त विषय का वर्णन आचार्य अमृतानन्द योगी ने 'अलंकारसंग्रह' में किया है । उक्त विषय के वर्णन में दोनों आचार्यों में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है ।[2]

गणदेवता और फलबोधक चक्र

नाम	स्वरूप	देवता	फल	शुभाशुभत्व
यगण	।SS	जल	आयु	शुभ
मगण	SSS	पृथ्वी	लक्ष्मी	शुभ
तगण	SS।	आकाश	शून्य	अशुभ
रगण	S।S	अग्नि	दाह	अशुभ
जगण	।S।	सूर्य	रोग	अशुभ
भगण	S।।	चन्द्रमा	यश	शुभ
नगण	।।।	स्वर्ग	सुख	शुभ
सगण	।।S	वायु	विदेश	अशुभ

---

1. प्रत्येकं तु गणा ज्ञेयास्सदसत्फलदा यथा ।
   याद्धनं राच्चभीदाहौ तः शून्यफलदोमतः ।।
   भात्सुखं जाद्रुजा सात्रु क्षयो रैशुभदौ नमौ ।
   वदन्ति देवतांशब्दाः भद्रादीनि चयेतु ते ।।
   गणाद्वा वर्णतोऽवाऽपि नैव निन्द्याः कवीश्वरैः ।
   एतद्वर्वाभिविन्यासं काव्यं पद्मादितस्त्रिधा ।। अ0चि0-1/93-96

2. यो वारिरूपो धनकृद्रोऽग्निर्दाहभूयङ्.करः ।
   ऐश्वर्यदो नाभसस्तो भः सौम्यः सुखदायकः ।।
   जः सूर्यो रोगदः प्रोक्तः सो वायव्यः क्षयप्रदः ।
   शुभदो मो भूमिमयो नो गौर्धनकरो मतः ।।
   अलंकार संग्रह - 1/33-34

काव्य के भेद:-

आचार्य भामह ने छन्द के अभाव और सद्भाव के आधार पर काव्य के दो भेदों का उल्लेख किया था ।[1] उसके पश्चात् दण्डी ने गद्य-पद्य एवं मिश्र-रूप से काव्य के तीन भेदों का उल्लेख किया ।[2]

परवर्ती काल में आचार्य अजितसेन ने दण्डी के आधार पर काव्य भेद का उल्लेख किया । दण्डी ने जिसे पद्यकाव्य की अभिधा प्रदान की थी अजितसेन ने उसे छन्दोमय तथा दण्डी के गद्यात्मक काव्य को अछन्दोमय तथा दण्डी द्वारा स्वीकृत मिश्रकाव्य को मिश्रकाव्य के रूप में ही स्वीकार किया ।[3]

यद्यपि अजितसेन के पूर्ववर्ती आचार्य भामह, दण्डी आदि छन्द के अभाव, सद्भाव के आधार पर, भाषा के आधार पर, विषय के आधार पर तथा स्वरूप विधान के आधार पर भेदों का उल्लेख किया है ।[4] आचार्य अजितसेन पूर्व आचार्यों द्वारा निरूपित रचना, तथा भाषा आदि आधार पर काव्य भेद स्वीकार करना उचित नहीं समझा । वस्तुतः गम्भीरता से विचार करने पर अजितसेन ने रचना की दृष्टि से जो विभाग किया है वह मौलिक भी है तथा परम्परानुमोदित भी है ।

---

1. गद्यं पद्यं च तद्विधा - भामह - काव्यालंकार 1/16 पूर्वार्द्ध
2. पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत्र त्रिधैव व्यवस्थितम् । काव्यादर्श-1/14
3. सच्छन्दोऽच्छन्दसी पद्यगद्ये मिश्रं तु तद्युगम् ।
   निबद्धमनिबद्धंवा कुर्यात्काव्यमुखं कविः ।।
   अ0चि0 - 1/97
4. भामह - काव्यालंकार - द्व0परि-1
   दण्डी - काव्यादर्श - द्व0 परि-1

अजितसेन के अनुसार काव्य का आरम्भ मंगलाचरण से करना चाहिए । यह मंगलाचरण आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तु-निर्देशात्मक - त्रिविध प्रकार का होना चाहिए । यदि त्रिविध प्रकार का मंगल संभव न हो तो ग्रन्थादि में मंगलाचरण करना नितान्त आवश्यक है ।[1] महर्षि पतञ्जलि ने भी मंगलाचरण की उपयोगिता के विषय में यह निर्देश दिया था कि मंगल से आरम्भ होने वाले शास्त्र प्रसिद्धि को प्राप्त करते हैं । उनसे सम्बद्ध पुरुष वीर तथा आयुष्यमान होते हैं एवं अध्येताओं की अभिलाषा पूर्ण होती है ।[2]

यद्यपि आचार्य अजितसेन ने मंगलाचरण की चर्चा करके कवि को मंगलाचरण की शिक्षा दी है तथापि इनका यह विचार पूर्व आचार्यों द्वारा अनुमोदित रहा है क्योंकि भामह, दण्डी, रुद्रट, मम्मट आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के आरम्भ में मंगलाचरण की परम्परा का पालन किया है ।[3]

मंगलाचरण की शिक्षा के पश्चात् आचार्य अजितसेन ने यह भी सुझाव दिया है कि काव्य का प्रारम्भ स्वरचित छन्द या गद्य से यदि किया जाये तो उसे निबन्ध और अन्य आचार्यों द्वारा रचित छन्द या गद्य से किया जाए तो अनिबद्ध कहा जायेगा । इसके अतिरिक्त इन्होंने यह भी बताया है कि कवि को कभी

---

1. (क) निबद्धमनिबद्धं वा कुर्यात्काव्यमुखं कविः ।
   आशीरूपं नमोरूपं वस्तुनिर्देशनं च वा ।।

   (ख) स्वकाव्यमुखे स्वकृतं पद्यं निबद्धं परकृतमनिबद्धम् ।

   अ0चि0 - 1/97 उत्तरार्ध

2. मांगलिक आचार्यो महताशास्त्रौघस्यमंगलार्थंसिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते ।
   मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्तेवीरपुरुषाणि च भवन्ति
   आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति ।
   महाभाष्य - प्रथमाह्निक

3. भामह - काव्यालंकार - 1/1 - नमस्कारात्मक,
   दण्डी - काव्यादर्श - 1/1, रुद्रट - काव्यालंकार - 1/1
   मम्मट - काव्यप्रकाश - 1/1

कभी भी अन्य कवि के काव्य से सुन्दर शब्द या अर्थ की छाया को ग्रहण नही करना चाहिए क्योंकि शब्दग्राही कवि को पश्यतोहर (चोर) कह कर उसकी निन्दा की गयी है ।[1] इनके पूर्ववर्ती आचार्य राजशेखर ने भी अर्थ हारक कवि की निन्दा की थी ।[2] यद्यपि आचार्य राजशेखर पद हरण-पादहरण आदि को कवि के लिए क्षम्य बताया है ।[3]

आचार्य अजितसेन ने समस्यापूर्ति मे कवियों के शब्द और अर्थ के हरण को दोष नहीं बताया ।[4] किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि समस्या पूर्ति के लिए कहीं से भी श्लोक लेकर समस्या पूर्ति कर दी जाय । कवि को चाहिए कि स्वरचित वाक्यों में वह समस्या पूर्ति ही करे । यदि समस्या पूर्ति के समय प्रवाह में किसी अन्य कवियों के काव्यों के शब्द या अर्थ का हरण हो भी जाय तो वह समस्या पूर्ति में दूषण न होकर कवि की बहुज्ञता का परिचायक होने से कवि के सम्मान में अभिवृद्धि करता है ।

महाकवि का स्वरूप:-

आचार्य अजितसेन के अनुसार सभी प्रकार के रस एवं भाव के सन्निवेश में विशारद शब्द अर्थ के समस्त अंगों का ज्ञाता तथा कवि-शिक्षा से पूर्ण परिचित कवि ही महाकवि के पद को अलंकृत करता है अन्य कवि मध्यम कोटिक

---

1. अन्यकाव्यसुशब्दार्थच्छाया नो रचयेत्कविः ।
   स्वकाव्ये सोऽन्यथालोके पश्यतोहरतामतेत् ।।

   अ०चि० - 1/98

2. सोऽयं कवेरकवित्वदायी सर्वथा प्रतिबिम्बकल्प· परिहरणीयः ।

   काव्यमीमांसा - अ० 12

3. काव्यमीमांसा - अ० 11

4. समस्यापूरणं कुर्यात्परशब्दार्थगोचरम् ।
   पराभिप्रायवेदित्वान्न कविर्दोषमृच्छति ।।

   अ०चि० - 1/99

होते हैं ।

मध्यम आदि कविः-

कतिपय कवि सौन्दर्य के लिए विशेष इच्छुक रहते हैं । कतिपय कवि अर्थ सौन्दर्य व समासयुक्त रचना की अभिलाषा करते हैं । किसी को कोमलकान्त पदावली, स्फुट प्रसाद गुण विशिष्ट रचना ही अभीष्ट होती है । अतः महाकवित्व पद प्राप्ति के लिए कवि को सदा सावधान रहना चाहिए ।

शोध प्रबन्ध के कई प्रस्तुत अध्याय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि आचार्य अजितसेन ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा कतिपय नवीन तथ्यों की भी उद्भावनाएँ की हैं । जिनका निर्देश इस प्रकार है -

(1) काव्य स्वरूप के सम्बन्ध में इन्होंने उत्तम कोटि के नायक के चरित्र चित्रण की चर्चा की है तथा काव्य को उभयलोक हितकारी तथा धर्म हेतुक बताया है । जबकि किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने काव्य स्वरूप के सम्बन्ध में इन तत्त्वों का उल्लेख नहीं किया ।

(2) महाकाव्य के वर्ण्य विषयों का सविस्तार वर्णन जितना अलंकार चिन्तामणि में किया गया है उतना भामह, दण्डी, रुद्रट, मम्मट आदि किसी भी पूववर्ती आचार्य की कृतियों में नहीं है ।

(3) कवि समय विषयक मान्यताऐं सर्वथा नवीन नहीं कही जा सकती हैं तथापि आचार्य राजशेखर कृत काव्यमीमांसा में प्रतिपादित कवि-समय विषयक पदार्थों का निर्देश अजितसेन ने अधिक किया है ।

*****

अध्याय - 3
चित्रालंकार निरूपण

इसके पूर्व कि चित्रालंकार का निरूपण किया जाय, चित्रालंकार के स्वरूप के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक होगा । दण्डी आदि आचार्यों के अनुसार जहाँ श्लोक की इस प्रकार की संरचना की जाय कि उसमें पद्म, खड्ग, मुरजादि के चित्रों का निर्माण हो सके तो उस रचना को चित्रालंकार की कोटि में परिगणित किया गया है ।[1] आचार्य अजितसेन के अनुसार जिस उक्ति से आश्चर्य की उत्पत्ति हो उसे चित्र कहते हैं ।[2]

इसके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषा के जिस रचना विशेष में उक्ति की विचित्रता हो उसे भी चित्र कहा है । एक प्रकार का सादृश्य प्रतीति होने पर उसे शुद्ध चित्र के रूप में स्वीकार किया है ।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, भूतभाषा या पैशाची - इन चारों में चित्रकाव्य की स्थिति संभव है ।[3]

यहाँ शंका उत्पन्न हो सकती है कि वर्ण अमूर्त हैं उनसे चित्र निर्माण कैसे सम्भव है ? इस शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि वर्णों को लिपिबद्ध करके उनसे खड्ग, पद्म, बन्धादि के रूप में रचना की जा सकती है अतः चित्रालंकार को शब्दालंकार भी स्वीकार किया जा सकता है ।[4] अलंकारसर्वस्व के टीकाकार विद्याचक्रवर्ती भी उक्तमत के ही पोषक हैं ।[5]

---

1. (क) काव्यादर्श - 3/78
   (ख) का0प्र0 - 9/85

2. धीरोष्ठयबिन्दुमद् बिन्दुच्युतकादित्वतोऽद्भूतम् ।
   करोति यत्तदत्रोक्तं चित्रं चित्रविदा यथा ।। अ0चि0 - 2/2

3. (क) संस्कृतप्राकृताद्युक्तिवैचित्र्यं विद्यते ।
   तच्चित्रमैकवर्ण्यं तु शुद्धं तत्परिभाष्यते ।। अ0चि0 2/16
   (ख) अ0चि0 2/119-122

4. का0प्र0 - बालबोधिनी टीका, नवम उल्लास, पृ0 - 529

5. लिपिसन्निविष्टानां वर्णानां वाच कत्वाभावादित्यत आहयद्यपीत्यादि ।
   खड्गादिसन्निवेशो हि लिप्यक्षराणामेव न श्रोत्राकाश समवायिनाम् ।
   वाचकत्वं तु -------- शब्दालंकारत्वमुपचर्यत इतिभावः ।
   अ0स0 - संजीवनी टीका पृ0 - 38

चित्रालंकार के निरूपण का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य दण्डी को है । आचार्य दण्डी के अनुसार जिसमें ऊर्ध्व-अधः क्रम से लिए गए वर्णों में एक वर्ण व्यवहित समानाकारता पायी जाय, उसे चित्रकाव्य कहा गया है । चित्रकाव्य के विशेषज्ञ विद्वान इसे अर्ध गोमूत्रिका नाम से जानते हैं ।[1] इन्होंने चित्रकाव्य के निम्न भेदों का उल्लेख किया है -

गोमूत्रिका बन्ध, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्रम्, स्वरनियम, स्थान नियम एवं वर्णनियम किन्तु आचार्य दण्डी काव्य संरचना में इन्हें दुष्कर स्वीकार करते हैं।

दण्डी के पश्चात् आचार्य रुद्रट ने इसका निरूपण किया है उनके अनुसार - जहाँ क्रमिक वर्णयोजना के आधार पर वस्तुओं के. चित्र रचे जायें वहाँ चित्रालंकार होता है । इन्होंने इसमें विचित्रता का होना आवश्यक बताया है ।[2] इन्होंने चक्र, खड्ग, मुसल, शरशूल, शक्ति, हल-तुरग, पद बन्ध, गजपद बन्ध आदि बन्ध चित्रों की भी चर्चा की है । इसके अतिरिक्त अनुलोम, प्रतिलोम तथा वर्ण्य-विन्यास जन्य वैचित्र्य के रूप में भी भेदों का उल्लेख किया है ।[3]

भोज ने चित्रालंकार की स्थिति वर्ण, स्थान, स्वर, आकार, गति, बन्ध के आधार पर किया है तथा इसके अनेक भेदों का उल्लेख भी किया है जिसके अन्तर्गत प्रहेलिकाओं का भी उल्लेख किया है ।[4]

आचार्य मम्मट खड्ग-बन्ध, मुरज-बन्ध, पद्म-बन्ध तथा सर्वतोभद्र रूप से चार भेदों का ही उल्लेख किया है ।[5]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ धीरोष्ठ, बिन्दुमद, बिन्दुच्युतकादि अलंकारों को देख सुनकर आश्चर्य हो उसे चित्रालंकार कहते हैं[6] । मम्मट ने

---

1. वर्णानामेकरूपत्वं यत्वेकान्तरमर्धयोः ।
   गोमूत्रिकेति तत् प्राहुर्दुष्करं तद्विदोयथा ।। काव्यादर्श-3/78
2. रू० काव्यालंकार - 5/1
3. वही, 5/2-4
4. स०क०भ० - 2/109
5. का०प्र० - श्लोक संख्या 385-388
6. धीरोष्ठ्यबिन्दुमद् बिन्दुच्युतकादित्वतोऽद्भुतम् ।
   करोति यत्तदत्रोक्तं चित्रं चित्रविदा यथा ।। अ०चि० - 2/2

चित्रालंकार के केवल चार ही भेदों का उल्लेख कर उसे उपेक्षित कर दिया था किन्तु अजितसेन ने पुनः चित्रालंकार के प्रति विशेष समादर भाव प्रस्तुत किया और पूर्वाचार्यों की अपेक्षा इसके भेदों का भी विस्तार किया । इनके अनुसार चित्रालंकार के निम्नलिखित भेद किए गए हैं ।

(1) व्यस्त, (2) समस्त, (3) द्विःव्यस्त, (4) द्विःसमस्त, (5) व्यस्त-समस्त, (6) द्विःव्यस्त-समस्त, (7) द्वि समस्तक-सुव्यस्त, (8) एकालापम्, (9) प्रभिन्नक, (10) भेद्य-भेदक, (11) ओजस्वी, (12) सालंकार, (13) कौतुक, (14) प्रश्नोत्तर, (15) पृष्टप्रश्न, (16) भग्नोत्तर, (18) आद्युत्तर, (19) मध्योत्तर, (20) अपह्नुत, (21) विषम, (22) वृत्त, (23) नामाख्यातम्, (24) तार्किक, (25) सौत्र, (26) शाब्दिक, (27) शास्त्रार्थ, (28) वर्गोत्तर, (29) वाक्योत्तर, (30) श्लोकोत्तर, (31) खण्ड, (32) पदोत्तर, (33) सुचक्रक, (34) पद्म, (35) काकपद, (36) गोमूत्र, (37) सर्वतोभद्र, (38) गत-प्रत्यागत, (39) वर्द्धमान, (40) हीयमानाक्षर, (41) श्रृंखल्य और (42) नागपाशक ये शुद्ध चित्रालंकार हैं।[1] आचार्य अजितसेन द्वारा निरूपित चित्रालंकारों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है (1) प्रश्नोत्तराश्रित चित्र, (2) चक्रादि लिपि बन्धाश्रित चित्रालंकार तथा (3) प्रहेलिकाश्रित चित्रालंकार ।

उपर्युक्त चित्रालंकारों के भेदों में संख्या एक (व्यस्त) से संख्या बत्तीस (पदोत्तर) तक के भेद प्रश्नोत्तराश्रित है क्यों कि इनमें कहीं व्यस्तरूप में, कहीं समस्त रूप में, कहीं अन्य रूपों में प्रश्न और उसके उत्तर की चर्चा की जाती है। सुचक्र से नागपाश तक दस भेदों को लिपिबन्धाश्रित स्वीकार किया गया है क्योंकि- इसकी संरचना चक्र, पद्म, काकपदापि चित्रों पर आश्रित है ।
प्रहेलिकाश्रित चित्र प्रहेलिकाओं पर आश्रित है ।

आचार्य अजित सेन ने चित्रालंकार के 42 भेदों को शुद्ध चित्र के रूप में स्वीकार किया है और प्रहेलिकाओं को इससे भिन्न बताया है किन्तु प्रहेलिकाओं का निरूपण भी चित्रालंकार निरूपण के परिच्छेद में ही किया है तथा प्रहेलिकाओं के अन्तर्गत भी छत्र-बन्धादि की चर्चा की है जो वस्तुतः चित्र से अभिन्न नहीं कहे जा सकते ।

---

1. अ0चि0 - 2/3 - 8 $\frac{1}{2}$

व्यस्त एवं समस्त चित्रालंकारः-

पृथक्-पृथक् पदों से जो प्रश्न किया जाय उसे व्यस्त चित्रालंकार कहते हैं तथा एक में मिले हुए पदों से जो प्रश्न किया जाये उसे समस्त चित्रालंकार कहते हैं ।[1]

द्विर्व्यस्त और द्विः समस्त चित्रालंकारः-

जब समस्त पदों का विभाग कर दो बार पूछा जाय तो उसे द्विर्व्यस्त चित्रालंकार कहा जाता है । इसी प्रकार जब समस्त पदों में ही दो बार पूछा जाय तो उसे द्विःसमस्त चित्रालंकार कहते हैं ।[2]

व्यस्तक और समस्तक चित्रालंकारः-

पद के विभाग से पूछा गया पद यदि दो अर्थों का प्रतिपादक हो अथवा समुदाय से भी पूछा गया पद दो अर्थों का प्रतिपादक हो तो उसे व्यस्तक-समस्तक चित्रालंकार कहते हैं ।[3]

द्विर्व्यस्तक - समस्तक और द्विःसमस्तक-व्यस्तक चित्रालंकारः-

दो व्यस्त पद और एक समस्त पद से जिसे कहा जाय उसे द्विर्व्यस्तक समस्तक तथा दो समस्त और एक व्यस्तपद से जिसे कहा जाय, उसे द्विःसमस्तक-व्यस्तक चित्रालंकार कहते हैं ।[4]

एकालापक चित्रालंकारः-

एक सुनने के क्रिया-भेद से तथा दो बार समास के रूप में परिणत भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ को कहने वाले वचन को एकालाप चित्रालंकार कहा गया है ।[5]

---

1. अ0चि0 - 2/9$\frac{1}{2}$
2. अ0चि0 - 2/12$\frac{1}{2}$
3. वही - 2/15$\frac{1}{2}$
4. वही - 2/17$\frac{1}{2}$
5. अ0चि0 - 2/19$\frac{1}{2}$

प्रभिन्नक चित्रालंकारः-

कोई सुकोमल बुद्धि वाले कवि एक ही प्रकार के अर्थ भेद से प्रभिन्नक चित्रालंकार की रचना करते हैं, पर आचार्यों ने इस पक्ष को मान्यता नहीं दी है।[1] शब्द और अर्थ के भेद से प्रभिन्नक की रचना अवश्य करनी चाहिए । वचन, लिंग और विभक्तियों के भेद को भी यथाशक्ति कहना चाहिए ।[2]

भेद्यभेदक चित्रालंकारः-

जिस प्रश्न में विशेषण और विशेष्य का निबन्धन किया गया हो - विद्वानों ने उसे भेद्य-भेदक चित्रालंकार कहा है ।[3]

ओजस्वी जाति - चित्रालंकार का लक्षणः-

जब लम्बे समास वाले पद से प्रश्न किया गया हो और अल्पाक्षर पद से उत्तर दिया गया हो तो उसे दुःख दूर करने वाले पण्डितों ने ओजस्वी अलंकार कहा है ।[4]

'सालंकार' चित्रालंकारः-

जिसमें उपमा, रूपक आदि अनेक अलंकारों की स्पष्ट प्रतीति हो, उसे विद्वान कवियों ने सालंकार चित्र कहा है ।[5]

कौतुक चित्रालंकारः-

लघुवृत्त द्वारा प्रश्न किये जाने पर अधिक अक्षरों द्वारा जो उत्तर दिया जाय, विषयज्ञ विद्वानों ने कुतूहल उत्पन्न करने वाले उस पद को कौतुक चित्र कहा है ।[6]

---

1. वही - 2/27
2. वही - 2/29
3. वही - 2/30
4. अ०चि० - 2/32
5. अ०चि० - 2/34
6. वही - 2/37

प्रश्नोत्तरसम चित्रालंकारः-

जिस उत्तर में प्रश्नाक्षर के समान ही अक्षर हों - उसे श्रेष्ठ कवियों ने प्रश्नोत्तरसम चित्र कहा है ।[1]

पृष्ट प्रश्नजाति चित्रालंकारः-

आचार्य अजितसेन के अनुसार जिसमें उत्तर का अच्छी तरह से उच्चारण कर उसका प्रश्न भी पीछे से जोड़ा जाता है, उसे प्रश्नोत्तर विशारद पृष्ठ प्रश्न जाति चित्र कहते हैं ।[2]

भग्नोत्तर चित्र का लक्षणः-

जहाँ 'यह कहो' - इस प्रकार पूछने पर पद-विच्छेदकर उत्तर दिया जाय और काकुध्वनि से जो गुप्त रखा जाय, उसे विद्वानों ने भग्नोत्तर चित्र कहा है ।[4]

आदि-मध्य-उत्तरजाति चित्र का लक्षणः-

जिस प्रश्न वाक्य में पूछा हुआ प्रश्न आदि, मध्य और अन्त में सुस्थिर हो और उसका उत्तर भी आदि, मध्य और अन्त रूप हो, तो उसे विद्वानों ने आदि-मध्य-उत्तरजाति रूप चित्र कहा है ।[3]

कथितापह्नुत चित्र का लक्षणः-

अन्य पाद से रहित होने पर भी जिस प्रश्न वाक्य में अच्छी तरह से स्थित उत्तर वैकल्पिक न हो उसे कथितापह्नुत चित्र कहा गया है ।[5]

---

1. अ0चि0 - 2/39
2. वही - 2/41
3. वही - 2/43
4. अ0चि0 - 2/45
5. वही - 2/49

वृत्त एवं विषमवृत्त चित्र का लक्षण:-

जिसमें रचना की विषमता प्रतीत हो उसे विषम और जिसमें प्रश्न वृत्त के नाम से ही उत्तर की प्रतीति हो जाय उसे वृत्त चित्रालंकार कहते हैं ।[1]

नामाख्यात चित्र का लक्षण:-

जिसमें एक ही 'सु' के सम्बन्ध के कारण सुबन्त और तिङन्त के भेद से दो प्रकार का उत्तर प्रतीत हो, उसे नामाख्यात चित्र कहते हैं ।[2]

तार्क्य - सौत्र - शब्द - शास्त्रवाक्य चित्र के लक्षण:-

यदि तर्क, सूत्र, शब्द और शास्त्रवाक्य से उद्‌भव-उत्पत्ति प्रतीत हो तो उन्हें क्रमशः तार्क्य, सौत्र, शाब्द और शास्त्रार्थ चित्र कहते हैं ।[3]

वर्णोत्तर और वाक्योत्तर चित्रों के लक्षण:-

वर्ण में ही जिसका उत्तर प्रतीत हो जाय, उसे वर्णोत्तर चित्र कहते हैं और वाक्य में ही जिसका स्पष्ट उत्तर प्रतीत हो, उसे वाक्योत्तर चित्र कहते हैं ।[4]

श्लोकार्द्धपादपूर्व चित्र का लक्षण:-

जिसमें केवल श्लोक का आद्यपाद ही उत्तर रूप प्रतीत हो, उसे श्लोकार्द्धपादपूर्व चित्र कहते हैं और इसके तीन भेद माने गये हैं ।[5]

आचार्य अजितसेन ने खण्डचित्र, पदोत्तर चित्र एवं सुचक्र चित्रालंकारों के लक्षणों को न बताकर मात्र उदाहरण ही बतलाएँ हैं ।[6]

---

1. अ0चि0 - 2/52
2. वही - 2/55
3. अ0चि0 - 2/58
4. वही - 2/64
5. वही - 2/67
6. वही - 2/71 $\frac{1}{2}$, 72$\frac{1}{2}$, 73-76

पद्मबन्ध का लक्षण:-

जब अष्टदल कमल बनाकर उसकी कर्णिका में ऐसे वर्ण का विन्यास किया जाय, जिसका सम्बन्ध अन्य समस्त उत्तर वर्णों के साथ हो । तत्पश्चात् दो-दो वर्ण कमल पत्रों में लिखने से पद्मबन्ध की रचना होती है ।[1]

काकपद चित्र का लक्षण:-

जिस रचना विशेष में कौवे के पैर के समान ऊपर और नीचे अक्षरों का व्यावर्त्तन - उलट - पुलट कर हो, उसे विद्वानों ने काकपद कहा है ।[2]

गोमूत्रिका चित्र का लक्षण:-

जिस रचना में ऊपर और नीचे के क्रम में अक्षर एकान्तरित करके पढ़े जायें, विद्वानों ने निश्चय ही उस रचना विशेष को गोमूत्रिका चित्र कहा है।[3]

सर्वतोभद्र चित्र का लक्षण:-

एक दो या सभी दिशाओं में स्थित उत्तर वाले अनेक अक्षरों से जो रचना विशेष की जाय, उसे विद्वानों ने सर्वतोभद्र चित्र कहा है ।[4]

गतप्रत्यागत चित्र का लक्षण:-

उलटा और पढ़ने से तथा उसके बीच के अक्षर के लोप वाले उत्तर से अनेक प्रकार से सम्पन्न रचना - विशेष को गत-प्रत्यागत चित्र कहते हैं ।[5]

वर्धमानाक्षर चित्र का लक्षण:-

जिस रचना विशेष में आदि, मध्य अथवा अन्त में एक, दो या तीन अक्षरों की वृद्धि हो जाये उसे वर्धमानाक्षर कहते हैं ।[6]

---

1. अ0चि0 - 2/78
2. वही - 2/82
3. वही - 2/83
4. वही - 2/87
5. वही - 2/92
6. वही - 2/98

हीयमानाक्षर चित्र का लक्षण:-

जिस रचना विशेष के आदि, मध्य और अन्त से एक, दो या तीन वर्ण कम होते जायें, उसे हीयमानाक्षर चित्र कहते हैं ।[1]

शृंखलाबन्ध चित्र का लक्षण:-

जो रचना विशेष परस्पर अक्षरों में स्थित रेखा से स्पष्ट व्यवहित हो, उसे संसार शृंखला से मुक्त आचार्यों ने शृंखलाबन्ध कहा है ।[2]

नागपाश चित्र का लक्षण:-

सर्पाकृति धारण करने वाले बन्ध - रचना - विशेष में व्यवधान किये हुए वर्णों को पढ़ना चाहिए । इस रीति का निर्मित वाक्य का आश्रय लेकर जो बन्धरचित होता है, उसे विद्वज्जन नागपाश चित्र कहते हैं ।[3]

नागपाश रचना की विधि:-

ऊपर मुख वाली सर्पाकृति चार रेखाओं द्वारा लिखकर मुख और पुच्छ के बीच में तिरछी छः रेखाओं को लिखना चाहिए । इस प्रकार रचना करने से इक्कीस कोष्ठक होते हैं । तद्नन्तर फण से प्रारम्भ कर प्रत्येक पंक्ति के पुच्छ तक पृथक् - पृथक् इन वर्णों की स्थापना करनी चाहिए । प्रथम पंक्ति के प्रथम कोष्ठक के अक्षर से प्रारम्भ कर अन्तपर्यन्त चतुरंग क्रीड़ा में गजपदचार के क्रम से कम इस एक वाक्य को बाँचना चाहिए । पुनः तृतीय पंक्ति के प्रथम कोष्ठ से प्रारम्भ कर उसी प्रकार बाँचना चाहिए । तदनन्तर मध्यम पंक्ति के प्रथम कोष्ठक से प्रारम्भ कर या द्वितीय पंक्ति में तीन आवृत्ति से क्रमशः बाँचना चाहिए । तीन हिस्सों में विभक्त रहने पर भी एकतारूप यह नागपाश त्रिगुणित हो सकता है यह प्रश्नोत्तर सप्त वर्ण वाला है । अपनी बुद्धि के अनुसार अन्य भी कम या अधिक अक्षर का बनाना चाहिए ।

प्रहेलिका का स्वरूप:-

प्रहेलिका अलंकार का सर्वप्रथम संकेत भामह कृत काव्यालंकार में

---

1. अ0चि0 - 2/105
2. वही - 2/111
3. वही - 2/114

किया गया है । तत्पश्चात् आचार्य दण्डी ने इसका निरूपण चित्रकाव्य के अन्तर्गत किया है । आचार्य रुद्रट, भोज, अग्निपुराण एवं साहित्य दर्पण में भी प्रहेलिका का उल्लेख है ।[1]

आचार्य भामह ने नाना धात्वर्थ से गम्भीर तथा दुर्बोध शब्दों से निष्पादित यमक को प्रहेलिका के रूप में मान्यता दी है । यह वस्तुतः राम शर्मा नामक किसी विद्वान का मत था जिसका वर्णन उन्होंने 'अच्युतोत्तर' नामक काव्य में किया था । बहुत संभव है कि यह प्रसंग भामह को अत्यन्त प्रिय रहा हो इसीलिए उन्होंने 'हेय यमक' के सन्दर्भ में इसका निरूपण किया है । वस्तुतः भामह इसे काव्य में दुर्बोध ही स्वीकार करते हैं काव्य में इसका प्रयोग वांछनीय नहीं है क्योंकि इससे विद्वत् जन ही लाभान्वित हो सकते हैं ।[2]

आचार्य दण्डी के अनुसार आमोदगोष्ठी में विचित्र वाग्-व्यवहारों से मनो विनोद में लोगों से भरी भीड़ में गुप्त - भाषण में तथा दूसरों को अर्थानभिज्ञ बनाकर उपहास पात्र बना देने में प्रहेलिका को उपयुक्त बताया गया है ।[3]

आचार्य रुद्रट और भोज भी दण्डी के विचारों से सहमत हैं ।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जिस रचना विशेष में बाह्य एवं आभ्यन्तरिक दो प्रकार के अर्थ होने पर उसमें जिस किसी अर्थ को कहकर विवक्षित अर्थ को अत्यन्त गुप्त रखा जाय, उसको प्रहेलिका कहा है तथा शब्द और अर्थ रूप से इसके दो भेदों का उल्लेख भी किया है ।[5]

---

1. (क) काव्यालंकार - भामह - 2/18
   (ख) दण्डी - काव्यादर्श - 3/97
   (ग) रुद्रट - काव्यालंकार - 5/24
   (घ) सरस्वतीकण्ठाभरण - 2/33-34
   (ङ) साहित्य दर्पण - 10/13
2. काव्यालंकार - 2/18-20
3. क्रीड़ागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे ।
   परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः ।। — काव्यादर्श - 3/97
4. (क) प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगमिदम् । — रुद्रट-काव्यालंकार-5/24
   (ख) स0क0भ0-2/134 - दण्डी अनुकृत ।
5. अ0चि0 - 2/125

इनके पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी ने सोलह प्रकार की प्रहेलिकाओं का उल्लेख किया था जो निम्नलिखित हैं - (1) समागता, (2) वंचिता, (3) व्युत्क्रांता, (4) प्रमुषिता, (5) समानरूपा, (6) परूषा, (7) संख्याता, (8) परिकल्पिता, (9) नामांतरिता, (10) निभृतार्था, (11) समानशब्दा, (12) सम्मूढ़ा, (13) परिहारिका, (14) एकच्छन्ना, (15) उभयच्छन्ना तथा (16) संकीर्णा । इसके अतिरिक्त दण्डी ने चौदह दुष्ट प्रहेलिकाओं का भी निर्देश किया है ।[1]

अजितसेन के पूर्ववर्ती आचार्य भोज अन्तः प्रश्न और बहिर्प्रश्न तथा बहिरन्तः प्रश्न के आधार पर प्रहेलिकाओं का विभाजन किया था ।[2] जबकि आचार्य सेन अन्तः एवं बहिर्प्रश्न के आधार पर ही प्रहेलिकाओं के भेद की व्यवस्था की है ।

अजितसेन के अनुसार जहाँ विवक्षित अर्थ को अत्यन्त गुप्त रखा जाय, वहाँ अर्थ प्रहेलिका होती है ।

उदाहरणः- **नाभेरभिमतो राज्ञस्त्वयिरक्तो न कामुकः ।**
न कुतोऽप्यधरः कान्त्यायंः सदौजोधरः सकः ।। अ0चि0 - 2/126

उक्त श्लोक को प्रश्न प्रहेलिका के रूप में स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि आचार्य अजितसेन ने महाराजा नाभिराज को लक्ष्य करके उक्त श्लोक को उद्धृत किया है जिसमें यह प्रश्न भी किया है कि वह कौन पदार्थ है जो आप में रक्त-आसक्त है और आसक्त होने पर भी महाराज नाभिराज को अत्यन्त प्रिय है, कामुक विषयी भी नहीं है, नीच भी नहीं है और कान्ति से सदा तेजस्वी रहता है । इसका उत्तर 'अधर' है जो 'उक्त श्लोक के सम्यक् अनुशीलन से किञ्चित् कठिनाई के साथ व्याप्त हो जाता है' क्योंकि अधर नीचे का ओष्ठ ही है वह रक्त वर्ण का होता भी है और महाराजनाभिराज को प्रिय भी है कामुक भी नहीं है शरीर के उच्च भाग पर रहने के कारण नीच भी नही है और कान्ति से सदा तेजस्वी भी रहता है ।[3]

---

1. का0द0 - 3/98-124
2. स0क0भ0 - 2/137
3. अधरः। सदौजोधरः । सततं तेजाधरः सामर्थ्याल्लभ्योऽधरः अर्थ प्रहेलिका। अ0चि0, 2/126 की वृत्ति ।

अजितसेन के अनुसार - जहाँ किसी विवक्षितार्थ अर्थ के वाचक शब्द को इस प्रकार से व्यवहित रखा जाय कि उसे अभीष्ट अर्थ का प्रत्यायन विलम्ब से हो तो वहाँ शब्द प्रहेलिका होती है ।[1]

उदाहरणः- भोः केतकादिवर्णेन संध्यादिस्जुषाऽमुना ।
शरीरमध्यवर्णेन त्वं सिंहमुपलक्षय ।।

अ0चि0 - 2/127

"उक्त श्लोक में कोई व्यक्ति किसी से कह रहा है केतकी आदि पुष्पों के वर्ण से सन्ध्यादि के वर्ण से एवं शरीर के मध्यवर्ती वर्ण से अपने पुत्र को सिंह समझो ।" उक्त श्लोक में केतकी का आदि वर्ण 'के' है तथा सन्ध्या का आदि वर्ण 'स' है और शरीर का मध्य वर्ण 'री' है - तीनों को मिला देने पर सिंह वाचक 'केसरी' शब्द बन जाता है यहाँ शब्दजन्य चमत्कार होने के कारण शब्द प्रहेलिका है ।[2]

इसके अतिरिक्त आचार्य अजितसेन ने निम्नलिखित प्रहेलिकाओं का भी निरूपण किया है जो इस प्रकार हैं - (1) स्पष्टान्ध[3], (2) अन्तरालापक[4], (3) बहिरालापक अन्तविषम[5], (4) मात्राच्युतक प्रश्नोत्तर[6], (5) व्यञ्जनच्युत[7], (6) अक्षरच्युत प्रश्नोत्तर[8], (7) निह्नुतैकालापक[9], (8) मुरजबन्ध[10], (9) अनन्तर पादमुरजबन्ध[11], (10) इष्टपादमुरजबन्ध[12], (11) गूढतृतीयचतुर्थानन्तराक्षरद्वयविरचित-यमकानन्तरपादमुरजबन्ध[13], (12) मुरज और गोमूत्रिका षोडशदलपद्म[14], (13) गुप्तक्रियामुरज[15], (14) अर्द्धभ्रमगूढपश्चार्द्ध चित्र[16], (15) अर्द्धभ्रमगूढ - द्वितीयपाद[17], (16) एकाक्षरविरचित चित्रालंकार[18], (17) एकाक्षरविरचितैक पाद चित्र[19], द्वयक्षर चित्र[20], (19) गतप्रत्यागतार्द्ध चित्र[21], (20) गतप्रत्यागतैक चित्र[21], (21) गतप्रत्यागतपाद-यमक[22], (22) बहुक्रियापद --- स्वरगूढ --- सर्वतोभद्र[23], (23) गूढस्वेष्टपादचक्र[24],

---

1. विवक्षितार्थः सुविगोपितोऽसौ प्रहेलिका सा द्विविधाऽर्थशब्दात् ।
अ0चि0 - 2/125 उत्तरार्ध
2. वही - 2/127 1/2 वृत्ति
3. वही - 2/129 1/2, 4. 2/130 1/2, 5. 2/131 1/5, 6. 2/137 1/2 7. 2/138 1/2, 8. 2/139 1/2, 9. 2/147 1/2, 10. 2/149 1/2, 11. 2/150 1/2, 12. 2/151 1/2, 13. 152 1/2, 14. 2/153 1/2, 15. 2/154 1/2, 16. 2/155 1/2 - 156 1/2, 17. 2/157 1/2, 18. 2/159 1/2, 19. 2/160, 20. 2/161 1/2, 21. 2/162 1/2, 22. 2/163 1/2, 23. 2/164 1/2, 24. 2/165 1/2, 25. 2/166 1/2
अ0चि0 द्वितीय परिच्छेद ।

(25) दर्पणबन्ध[1], (25) पट्टकबन्ध[2], (26) तालवृन्त[3], (27) निःसालबन्ध[4], (28) ब्रह्मदीपिका[5], (29) परशुबन्ध[6], (30) यानबन्ध[7], (31) चक्रवृत्त[8], (32) भृंगार बन्ध[9], (33) निगूढपादक[10], (34) छत्रबन्ध[11], (35) हारबन्ध[12] ।

आचार्य अजितसेन ने उपर्युक्त सभी प्रहेलिकाओं के लक्षणों का उल्लेख नहीं किया है तथा विविध प्रकार के चित्रबन्धों को भी इसी प्रहेलिका के अन्तर्गत ही निरूपित कर दिया है किन्तु वैज्ञानिक रीति से विचार करने पर बिन्दुच्युतक मात्राच्युतकादि को प्रहेलिकाओं के अन्तर्गत रखा जा सकता है जैसा कि इनके पूर्ववर्ती आचार्य भामह, दण्डी तथा भोज स्वीकार करते रहे ।[13]

आचार्य अजितसेन ने मुरजबन्ध, दर्पणबन्ध, पट्टबन्ध, तालबन्ध, निःसाल बन्ध, ब्रह्मदीपिका, परशुबन्ध, यानबन्ध, चक्रबन्ध तथा श्रृंगार बन्ध और निगूढपाद के लेखनविधि के विषय में भी चर्चा की है जो इस प्रकार है -

मुरजबन्ध की प्रक्रियाः-

आचार्य अजितसेन के अनुसार ऊपर की पंक्ति में पूर्वार्द्ध पद्य को लिखकर नीचे उत्तरार्द्ध लिखे । एक-एक अक्षर से व्यवहित ऊपर और नीचे लिखने से मुरजबन्ध की रचना होती है ।[14]

पूर्वार्द्ध के विषम संख्यांक वर्णों को उत्तरार्द्ध के समसंख्यांक वर्णों के साथ मिलाकर लिखने से श्लोक का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के विषम संख्यांक वर्णों को पूर्वार्द्ध के समसंख्यांक वर्णों के साथ क्रमशः मिलाकर लिखने से उत्तरार्द्ध बन जाता है । इसका स्पष्टीकरण यह है कि प्रथम पंक्ति के प्रथमाक्षर को द्वितीय पंक्ति के द्वितीयाक्षर के साथ द्वितीय पंक्ति के प्रथमाक्षर को प्रथम पंक्ति के प्रथमाक्षर के साथ दोनों पंक्तियों के वर्णों की समाप्तिपर्यन्त लिखना चाहिए ।

---

1. वही - 2/168 1/2, 2. 2/169 1/2, 3. 2/171 1/2, 4. 2/173 1/2 5. 2/175 1/2, 6. 2/177 1/2, 7. 2/169 1/2, 8. 2/182 1/2, 9. 2/183 1/2, 10. 2/185 1/2, 11. 2/188 1/2, 12. 2/189 1/2 सभी अ0चि0 - द्वि0 परिच्छेद ।

13. (क) भा-काव्यालंकार - 5/24
(ख) दण्डी - काव्यादर्श - 3/106
(ग) स0क0भ0 - 2/134

14. पूर्वार्धमूर्ध्वं पड्क्तौ तु लिखित्वाऽर्द्धं परं त्वतः ।
एकान्तरितमूर्ध्वाधो मुरजं निगदेत् कविः ।। अ0चि0 2/149 1/2

दर्पणबन्ध का स्वरूपः-

जिस रचना विशेष में कवि छह बार पादमध्य, सन्धि और मध्य में एक वर्ण को घुमाता है, उसे दर्पणबन्ध कहते हैं ।[1]

पट्टकबन्ध का स्वरूपः-

जिस रचना विशेष में ऊपर और नीचे क्रमशः तीन चरणों को लिखकर अन्तिम चरण को चारों कोणों में लीन कर देते हैं, वह रचना पट्टकबन्ध कही गयी है ।[2]

तालवृन्त का स्वरूपः-

जिस रचना विशेष में आदि और अन्त के वृन्तों तथा चतुष्कोण सन्धि में एवं वृन्त के मध्य में दो-दो बार एक-एक अक्षर का भ्रमण कराते हैं, उसे तालवृन्त प्रबन्धक के रूप में स्वीकार किया गया है ।[3]

निःसालबन्ध का स्वरूपः-

चौकोर प्रत्येक चतुष्कोण में ऊपर, नीचे और अन्तर - व्यवहित में दो-दो और मध्य में एक-एक अक्षर को लिखने से निःसाल नामक बन्ध की रचना होती है ।[4]

ब्रह्मदीपिका का स्वरूपः-

आठ दलों में तीन-तीन अक्षरों को घुमाने से और कर्णिका को एक ही वर्ण द्वारा आठ बार भरने से ब्रह्मदीपिका नामक चित्र बनता है ।[5]

---

1. अ0चि0 2/149 1/2
2. वही - 2/169 1/2
3. वही - 2/171 1/2
4. वही - 2/173 1/2
5. वही - 2/175 1/2

परशुबन्ध का स्वरूपः-

परशुवृत्त में सन्धि स्थान में जो एक अक्षर है, उसे छह बार दुहरावें। श्रृंग और शिर में विद्यमान एक अक्षर को दो बार दुहरावें । इसी प्रकार तीन अक्षरों से युक्त ग्रीवा को भी दो बार दुहराने पर ब परशुबन्ध की रचना होती है ।[1]

यानबन्ध का स्वरूपः-

प्रिया को धारण करने वाले यानबन्ध में शिखराग्र के दोनों ओर के ऊर्ध्व भाग में चार-चार अक्षरों को लिखने तथा प्रवेश और निर्गम दोनों ही समय इनकी आवृत्ति करने पर यानबन्ध की रचना होती है ।[2]

चक्रवृत्त का स्वरूपः-

कवि चक्रवृत्त में छह ओर वाले चक्र को लिखकर अरों के बीच में तीन पादों को लिखकर और चतुर्थपाद को नेमि - चक्रधारा में लिखकर चक्रवृत्त की रचना करता है ।[3]

भृंगार बन्ध का स्वरूपः-

भृंगारबन्ध में पाद कण्ठ में दो-दो अक्षरों को, मध्य में आठ अक्षरों को और दोनों ओर अन्तिम पाद का न्यास करने पर भृंगारबन्ध की रचना होती है ।[4]

निगूढपाद का स्वरूपः-

चार भेद वाले निगूढ ब्रह्मदीपक बन्ध में प्रथम, द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थपाद निगूढ किया जाता है । प्रथमादि पादों की निगूढता से ही इसके चार भेद होते हैं ।[5]

---

1. अ०चि० - 2/177 1/2
2. वही - 2/169 1/2
3. वही - 2/182 1/2
4. वही - 2/183 1/2
5. वही - 2/185 1/2

चित्रकाव्य को प्रहेलिका के रूप में निरूपित करने का श्रेय सर्वप्रथम अग्निपुराणकार को जाता है इन्होंने सात प्रकार की प्रहेलिकाओं का उल्लेख किया है - (1) प्रश्न, (2) प्रहेलिका, (3) गुप्त, (4) च्युताक्षर, (5) दत्ताक्षर, (6) च्युतदत्ताक्षर तथा (7) समस्या।

समस्या प्रहेलिका के तीन भेद किए गये हैं - नियम, विदर्भ तथा बन्ध । नियम को स्थान, स्वर तथा व्यञ्जन रूप से तीन भागों में विभाजित किया गया है - प्रतिलोम्य तथा आनुलोम्य रचना को विदर्भ की कोटि में स्वीकार किया है तथा गोमूत्रिका अर्धभ्रमण, सर्वतोभद्र, मुरजबन्धादि प्रसिद्ध वस्तुओं के आधार पर की जाने वाली लोक रचना को बन्ध के रूप निरूपित किया है ।[1] अग्निपुराण के अनन्तर आचार्य अजितसेन ने भी विविध प्रकार के बन्धों को प्रहेलिका के रूप में स्थान देकर उसके महत्व की अभिवृद्धि की । यद्यपि अजितसेन कृत परिभाषा पर यत्र-तत्र अपने पूर्ववर्ती आचार्यों एवं अग्निपुराण का प्रभाव परिलक्षित होता है । तथापि इनके द्वारा निरूपित भेदों में नवण्यता तथा आधिक्य का आधान हुआ है । सम्पूर्ण द्वितीय परिच्छेद में इन्होंने केवल चित्र काव्यों का ही निरूपण किया है जो इनके वैदुष्य का परिचायक है ।

---

1. अग्निपुराण - अ0 343 पृ0 498

अध्याय - 4

शब्दालंकारों का विवेचन

शब्दालंकारों के विवेचन के पूर्व अलंकार की शब्दार्थ निष्ठता पर विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा ।

किसी भी अलंकार की शब्दार्थ निष्ठता को सुनिश्चित करने के लिए अन्वय-व्यतिरेक के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ता है अतः अन्वय व्यतिरेक सिद्धान्त के विषय में भी परिचय प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है ।

जिसके रहने पर जिस वस्तु या पदार्थ की स्थिति रहे, उसे अन्वय सिद्धान्त कहते हैं और जिसके अभाव में जिस वस्तु या पदार्थ की स्थिति संभव न हो उसे व्यतिरेक कहते हैं ।[1]

जिस अलंकार का जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक संभव हो सकेगा वह तदाश्रित अलंकार ही कहा जा सकेगा । यदि कोई भी अलंकार किसी पद के स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्द के रख देने पर यदि नष्ट हो जाता है तो वहाँ उसे शब्दगत अलंकार के रूप में ही स्वीकार किया जायेगा और यदि शब्द-परिवर्तन करने पर भी अलंकार की अलंकारता विनष्ट नहीं होती तो वहाँ उसे अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किया जाता है ।[2]

आचार्य रुय्यक तथा उनके टीकाकार विद्याचक्रवर्ती 'आश्रयाश्रयी' भाव सम्बन्ध को ही शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के निर्णायक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं । उनका कथन है कि यदि अलंकार शब्दाश्रित है तो उसे शब्दालंकार तथा अर्थाश्रित होने पर अर्थालंकार स्वीकार करना चाहिए ।[3] "लोक में भी कटक हाथ का अलंकार कहलाता है क्योंकि वह हाथ पर आश्रित रहता है और कुण्डल

---

1. यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः, यद्भावे यदभावो व्यतिरेकः, यथा दण्डचक्रादिसत्त्वे घटोत्पत्तिसत्त्वमन्वयः, दण्डचक्राद्यभावे घटोत्पत्त्यभावो व्यतिरेकः, ताभ्यामेवेत्यर्थः ।

   का0प्र0 - बालबोधिनी टीका, नवम उल्लास, पृष्ठ - 518

2. का0प्र0, नवम उल्लास-बालबोधिनी टीका ।

3. (क) लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारत्वनिबन्धनम् ।

   अ0स0-पृ0-378

   (ख) संजीवनी टीका - पृष्ठ - 378

कानों का तथा नूपुर पैरों का अलंकार कहलाता है क्योंकि वह कानों एवं पैरों में धारण किया जाता है, उस पर आश्रित है विमर्शिनीकार ने 'लोकवद्' की व्याख्या करते हुए यही मन्तव्य प्रकट किया है कि - लोके हि याऽलंकारों यदाश्रितः स तदलंकारतयोच्यते, यथा कुण्डलादिः कर्णाद्याश्रितस्तदलंकारः ।

(वि0पृ0 - 257)

हाथ के संयोग मात्र से नूपुर हाथ का अलंकार नहीं हो सकता और न पैर के संयोग से कटक या कुण्डल पैरों का। लौकिक आभूषणों तथा काव्यालंकार का इस अंश तक साम्य है । आश्रय का निश्चय शोभा, विच्छित्ति या वैचित्र्य के आधार पर होता है ।"[1]

लोक में जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है वह उसी का अलंकार कहलाता है जैसे कुण्डलादि कर्ण पर आश्रित होने से कर्ण का अलंकार कहलाता है । इसी प्रकार अलंकार शास्त्र में भी शब्दादि पर आश्रित रहने वाला अलंकार शब्दादि का अलंकार कहलाता है ।[2] परवर्ती काल में आचार्य विश्वनाथ तथा विद्यानाथ ने भी रूय्यक द्वारा निरूपित आश्रयाश्रयी भाव को सादर स्वीकार किया है । इसी के आधार पर इन्होंने सभंग तथा अभंग श्लेष को अर्थालंकार के रूप में निरूपित किया है ।[3]

रूय्यक द्वारा निरूपित आश्रयाश्रयी - भाव सिद्धान्त की अपेक्षा मम्मट निरूपित अन्वय - व्यतिरेक सिद्धान्त वैज्ञानिक होने के कारण प्रामाणिक प्रतीत होता है । प्रदीप तथा उद्योतकार. भी अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त को ही अलंकार का निर्णायक तत्त्व स्वीकार करते हैं ।[4]

---

1. अलंकार मीमांसा - डॉ0 रामचन्द द्विवेदी, पृष्ठ - 169

2. अ0स0 पृ0 - 378

3. (क) यो हि यदाश्रितः स तदलंकार एव । अलंकार्यालंकारणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः ।

सा0द0, परि0-10, पृ0 - 632

(ख) प्रताप - पृ0 406

- प्रकाशन - कृष्णदास अकादमी वाराणसी

4. बालबोधिनी पृ0 - 676, पंक्ति - 26

आचार्य अजित सेन ने चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक भेद से चार प्रकार के शब्दालंकारों को ही स्वीकार किया है ।[1] पूर्व अध्याय में चित्र-काव्य का निरूपण सविस्तार किया गया है ।

प्रस्तुत अध्याय में वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक का निरूपण करना अपेक्षित है ।

वक्रोक्ति अलंकार:-

संस्कृत साहित्य में वक्रोक्ति पद का उल्लेख दो अर्थों में होता है । एक अर्थ तो केवल अलंकार मात्र का सूचक है और दूसरा अलंकार विशेष का।

आचार्य भामह के अनुसार अतिशयोक्ति ही समग्र वक्रोक्ति (अलंकार प्रपंच) है । इससे अर्थ में रमणीयता आती है । कवि को इसके लिए प्रयास करना चाहिए क्योंकि उसके बिना कोई अलंकार संभव नहीं है ? आशय यह है कि वक्रोक्ति अलंकार के अभाव में इन्हें अलंकारत्व अभीष्ट नहीं है, सम्भवतः इसीलिए इन्होंने हेतु, सूक्ष्म व लेश को अलंकार नहीं माना है ।[2]

आचार्य दण्डी के अनुसार श्लेष प्रायः सभी वक्रोक्तियों का शोभाधायक है । इनके अनुसार सम्पूर्ण वाङ्मय स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति के रूप में विभक्त है ।[3]

आचार्य वामन ने इसे अलंकार के रूप में स्वीकार करते हुए सादृश्य लक्षणा को ही वक्रोक्ति बताया है किन्तु इसे गौणी लक्षणा के रूप में स्वीकार करना ही उचित प्रतीत होता है ।[4]

---

1. अलंकार चिन्तामणि - 2/1
2. भा0का0लं0 2/84, 85, 86
3. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्ति श्रियम् ।
   भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेतिवाङ्मयम् ।।
   का0द0 - 2/363
4. सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः । का0लं0सू0 - 4/3/8

रुद्रट के अनुसार जहाँ, वक्ता अन्य अभिप्राय से किसी बात को कहता है और उत्तर देने वाला पदों को भंग करके जहाँ अविवक्षित अर्थ को कहता है वहाँ श्लेष वक्रोक्ति अलंकार होता है[1] तथा जहाँ स्पष्ट रूप से उच्चारण किए गये स्वर-वैशिष्ट्य के कारण अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहाँ काकुवक्रोक्ति अलंकार होता है ।[2]

मम्मट, रुय्यक, शोभाकर मित्र, जयदेव, वाग्भट, अप्पयदीक्षित, भट्टदेवशंकर पुरोहित तथा विश्वेश्वर पर्वतीय की परिभाषाएँ रुद्रट से प्रभावित है ।[3]

आचार्य अजित सेन कृत परिभाषा पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न है । इनके अनुसार जहाँ शब्द और अर्थ की विशेषता के कारण प्राकरणिक अर्थ से भिन्न अर्थान्तर की प्रतीति हो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है ।

इन्होंने आचार्य रुद्रट तथा मम्मट की भाँति श्लेष तथा काकु में होने वाली वक्रोक्ति का उल्लेख नहीं किया तथापि इनके द्वारा निरूपित वक्रोक्ति में भी उक्त तत्त्वों का समावेश स्वीकार करना होगा, क्योंकि इन्होंने 'यत्रवक्राभिप्रायतो वाच्यं प्रस्तुताद्परं वदेत्' - का उल्लेख कर यह स्पष्ट कर दिया है कि कुटिलाभिप्राय से युक्त वाग्विन्यास के द्वारा जहाँ अर्थान्तर की प्रतीति हो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है । यहाँ अर्थान्तर की प्रतीति का कारण काकु अथवा श्लेष के अतिरिक्त दूसरा हो ही नहीं सकता । अतः काकुगत वक्रोक्ति तथा श्लेषगत वक्रोक्ति - इन दो भेदों का समावेश अजित सेन कृत परिभाषा में स्वीकार करना होगा । इनके द्वारा निरूपित उदाहरण में काकुवक्रोक्ति एवं श्लेषवक्रोक्ति दोनों ही तत्त्व समाहित हैं ।

---

1. का०लं० - 2/14
2. वही - 2/16
3. का०प्र० - 9/78
   अ०स० - 78
   अ०र० - 105
   चन्दा० - 5/111
   वाग्भटालंकार - 4/14
   कुव - 159
   अ०म० - 123

अजित सेन के अनुसार वक्रोक्ति में निहित तत्त्व:-

(1) दो व्यक्तियों का होना ।

(2) वक्ता के द्वारा अन्य अभिप्राय से कहे गए वचन को श्रोता के द्वारा काकु एवं वक्रोक्ति के कारण अन्यार्थ समझ लेना ।

उदाहरण-

> कान्ते पश्य मुदालिमम्बुजदले नाथात्र सेतु: कथम् ।
> तिष्ठेत्तन्न च तन्वि वच्मि मधुपंकिं मद्यपायी वसेत् ।।
> मुग्धे मा कुरु तन्मतिं धनकुचे तत्र द्विरेफं ब्रुवे ।
> किंलोकोत्तर वृत्तितोऽधम इह प्राणेश्वरास्ते वद ।।

अ०चि० - 3/2

उक्त श्लोक में 'अलिम्' के स्थान पर 'आलिम्' का प्रयोग कर वक्रोक्ति की योजना की गयी है । वक्ता कमल दल पर 'अलि' की बात कहता है पर श्रोता-उत्तर देने वाली पत्नी 'आलिम्' का अर्थ 'सेतु' अर्थ लगाकर उत्तर देती है। जब 'अलि' के पर्यायवाची मधुप का प्रयोग किया जाता है तो श्लेष द्वारा मद्यपायी अर्थ प्रस्तुत किया जाता है पुन: द्विरेफ की बात कही जाती है अर्थात् भ्रमर शब्द में दो रकार होने से वक्ता कमल-दल पर द्विरेफ के विचरण की चर्चा करता है, तो श्रोता-पत्नी 'प्राणेश्वरा' में द्विरेफ - दो रकार का अर्थ ग्रहण कर उत्तर देती है कि यहाँ प्राणेश्वर कहाँ है । इस प्रकार प्रथमार्द्ध में काकु द्वारा तथा उत्तरार्द्ध में श्लेष द्वारा प्रस्तावित अर्थ से भिन्न अर्थ के द्योतक वाक्य का आश्रय लिया गया है अत: यहाँ वक्रोक्ति अलंकार है ।

अनुप्रास अलंकार:-

आचार्य भामह ने यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा अलंकार के साथ अनुप्रास अलंकार की भी चर्चा की है किन्तु यह इनका अपना मत नहीं है ।[1] इन्होंने स्वरूप वर्णों के विन्यास में अनुप्रास अलंकार की सत्ता स्वीकार की है ।

आचार्य दण्डी ने रसोत्कर्षता पर विचार करते हुए इसे 'रसावह' कहा

---

1. भा०का०लं० - 2/4-5-7

है । इनके अनुसार रस की व्यञ्जना में अनुप्रास अधिक सहायक सिद्ध होता है ।[1]

दण्डी के पश्चात् आचार्य भोज ने अनुप्रास को काव्य-श्री की वृद्धि में नितान्त उपयोगी बताया है । इनका कथन है कि जिस प्रकार चन्द्रमा में ज्योत्स्ना एवं अंगनाओं में लावण्य सौन्दर्य वृद्धि में सहायक होता है ठीक वैसे ही ~~अलंकार~~ अनुप्रास अलंकार कवि-वाणी में स्तवकित होकर काव्य-श्री में वृद्धि करता है ।[2]

आचार्य मम्मट वर्णों की साम्यता में अनुप्रास अलंकार की सत्ता स्वीकार करते हैं -

'वर्णसाम्यमनुप्रासः' -

(का०प्र० सूत्र - 104)

उक्त सूत्र में प्रयुक्त वर्ण-पद व्यञ्जन परक है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवधान से विन्यस्त वर्णमात्र में साम्य की प्रतीति हो, और वह रसादि प्रतीति कराने में सक्षम हो तो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है ।[3] केवल स्वर-मात्र में सादृश्य होने पर रसानुगम न हो सकेगा और न ही सहृदय-हृदयावर्जक होगा ।[4] आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ समान अक्षरावृत्ति का श्रवण हो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है । इन्होंने अक्षरावृत्ति में अक्षरों के निकट सम्बन्ध को स्वीकार किया है क्योंकि अक्षरों में निकट सम्बन्ध होने पर ही उसमें रसोद्भावित करने का सामर्थ्य संभव हो सकेगा । इनके अनुसार अक्षरों में निकट का सम्बन्ध तथा समान आवृत्ति होने पर भी उसे अलंकार की कोटि में तब तक स्वीकार नहीं किया जायेगा जब तक उसमें चारूत्व न होगा । इन्होंने अनुप्रास लक्षण में भामह की भाँति 'जायते चारवो गिरः' - का उल्लेख नहीं किया है और ~~न ही~~ दण्डी की भाँति 'सानुप्रासा रसावहा' का उल्लेख भी नहीं किया है तथापि इनके

---

1. यया कयाचिच्छ्रुत्वा सानुप्रासा रसावहा । का०द० - 1/52
2. स०क०भ० - 2/76-77
3. स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः । - झलकीकर बालबोधिनी, पृष्ठ - 494
4. 'न च स्वरमात्रसादृश्ये रसानुगमः, न वा सहृदयहृदयावर्जकत्वलक्षणः प्रकर्षः' इति प्रदीपः । - झलकीकर बालबोधिनी, पृष्ठ - 494

लक्षण में भामह, दण्डी तथा मम्मट आदि की परिभाषा का समन्वित रूप विद्यमान है । कोई भी अलंकार 'कोविदानन्दकृत्' तभी हो सकेगा जब उसमें चारुत्व की सृष्टि करने की क्षमता हो और रसाद्यनुगत प्रकृष्ट वर्ण-विन्यास हो । अजितसेन कृत परिभाषा में 'अतिदूरपरित्यागात्तुल्या वृत्याक्षरश्रुतिः' से आशय यही है कि समान अक्षर वाले वर्णों की श्रुति यदि निकट होगी, उसमें दूर का वर्ण-व्यवधान न होगा तो उससे निश्चित ही सहृदयहृदयावर्जकता उत्पन्न करने का सामर्थ्य होगा और तभी वह अलंकार की कोटि में स्वीकार किया जा सकेगा ।[1]

अजितसेन कृत परिभाषा का वैशिष्ट्यः-

(1) समान अक्षरों की आवृत्ति का श्रवण होना ।
(2) अक्षरों में निकट का सम्बन्ध होना ।
(3) समान अक्षरावृत्ति का सहृदयहृदयाह्लादक होना ।

परवर्ती आचार्य जयदेव विश्वनाथ आदि की परिभाषाओं में किसी नव्यता का आधान नहीं हो सका । इनकी परिभाषाएँ किञ्चिद् शाब्दिक परिवर्तन के साथ अजितसेन से प्रभावित हैं ।[2]

अप्पयदीक्षित, पण्डितराज, जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डित ने इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया ।

लाटानुप्रासः-

लाटानुप्रास का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भामह ने किया । किन्तु इन्होंने लाटानुप्रास को परिभाषित नहीं किया है । इनके द्वारा प्रदत्त उदाहरण से ज्ञात होता है कि तात्पर्य भेद से शब्द और अर्थ की आवृत्ति ही लाटानुप्रास है ।[3]

---

1. अतिदूरपरित्यागात् तुल्यावृत्याक्षरश्रुतिः ।
   या, सोऽनुप्रास इत्युक्तः कोविदानन्दकृद्यथा ।। अ०चि० - 3।3

2. जयदेव - चन्द्रालोक - 5/8
   सा०द० - 10/8

3. लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा ।
   दृष्टिं दृष्टिसुखा धेहि चन्द्रश्चन्द्रमुखोदितः ।। भा०,का०या० 2/8

डॉ0 देवेन्द्रनाथ शर्मा ने उक्त भामह कृत लाटानुप्रास के उदाहरण की इस प्रकार विवेचना की है "किसी कारण नायिका से अपरक्त नायक के प्रति यह दूती की उक्ति है - चन्द्रमा के उदित हो जाने से नायिका की विरह-वेदना बढ़ गयी है, अतः अब तुम्हारी उदासीनता उचित नहीं है । अपनी आँखों में उदासीनता के बदले अनुराग भर लो जिसे देखकर नायिका की आँखें आह्लादित हो जायँ, अर्थात् उस पर प्रसन्न हो जाओ ।

यहाँ 'दृष्टि-दृष्टि' और 'चन्द्र-चन्द्र' में शब्द एवं अर्थ की पुनरुक्ति होते हुए भी तात्पर्य भेद है, इसलिए लाटानुप्रास है ।[1]

आचार्य उद्भट के अनुसार जहाँ स्वरूप एवं अर्थ की दृष्टि से भेद न होने पर भी प्रयोजनान्तर से शब्दों या पदों की पुनरुक्ति हो वहाँ लाटानुप्रास होता है, इन्होंने इसके निम्नलिखित भेदों का उल्लेख किया है[2]- (1) एक पदाश्रय, (2) पादाश्रय, (3) स्वतंत्र-परतंत्र, (4) पदाश्रय, (5) भिन्न पदाश्रय ।

आचार्य उद्भट के पश्चात् आचार्य मम्मट ने इसका निरूपण किया है उनके अनुसार शब्द और अर्थ में अभेद होने पर भी जहाँ तात्पर्य मात्र से भेद की प्रतीति हो वहाँ लाटानुप्रास होता है[3] । इन्होंने इसके पाँच भेदों का उल्लेख किया है - (1) एकपदा वृत्ति, (2) पदसमुदाया वृत्ति नाम (प्रातिपदिक) वृत्ति, (3) एक समासगत, (4) भिन्न समासगत, (5) समासासमासगत । आचार्य रुय्यक तथा शोभाकर मित्र कृत परिभाषा मम्मट से प्रभावित है ।[4]

आचार्य अजितसेन ने लाटानुप्रास तथा छेकानुप्रास को अनुप्रास के भेद के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है । लाटानुप्रास का केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किया है, परिभाषा का उल्लेख नहीं किया ।

---

1. काव्यालंकार - डॉ0 देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ0 - 32
2. काव्यालंकारसारसंग्रह प्रथम वर्ग पृ0 - 26।
3. शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ।

   का0प्र0 नवम् उल्लास सूत्र - 113-116
4. (क) तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः । अ0स0 सूत्र - 8

   (ख) तुल्याभिधेयभिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लाटानुप्रासः ।

   अलंकार रत्नाकर, सूत्र - 5

उदाहरण:-

यदि नास्ति स्वतः शोभा भूषणैः किं प्रयोजनम् ।
यद्यस्त्यंगता शोभाभूषणैः किं प्रयोजनम् ।।

अ0चि0 - 3/6

उक्त श्लोक में यह बताया गया है कि यदि स्वतः शोभा नहीं है तो भूषण विन्यास सर्वथा व्यर्थ है, और यदि स्वतः शोभा है तो भी भूषण विन्यास व्यर्थ ही है ।

उपर्युक्त उदाहरण से ज्ञात होता है कि आचार्य अजितसेन को भी शब्द और अर्थ में अभेद होने पर भी तात्पर्य मात्र से भेद प्रतीति में लाटानुप्रास अभीष्ट है, क्योंकि श्लोक के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध वाक्यों की योजना एक जैसी ही है तथापि तात्पर्य मात्र से भेद परिलक्षित हो रहा है । अतः यहाँ लाटानुप्रास है ।

लाटानुप्रास तथा यमक का अन्तर:-

लाटानुप्रास में शब्द तथा अर्थ में अभेद होने पर तात्पर्य भेद के कारण अर्थ में भिन्नता हो जाती है जबकि यमक में सार्थक किन्तु भिन्नार्थक पदों की आवृत्ति के कारण अर्थ भेद की प्रतीति होती है ।

लाटानुप्रास तथा अनन्वय का अन्तर:-

"लाटानुप्रास[1] के समान अनन्वय में भी शब्द की पुनरावृत्ति होती है तथापि अनन्वय शाब्दिक पुनरुक्ति गौण होती है और लाटानुप्रास में वह अलंकारत्व की सृष्टि करती है ।"[2]

---

1. शोभाकर मित्र के अलंकार रत्नाकर का आलोचनात्मक अध्ययन - डॉ0 सोम प्रकाश पाण्डेय, पृ0 - 32

अ0र0, सू0-5 की वृत्ति

2. अ0स0, पृ0 - 37

छेकानुप्रासः -

आचार्य उद्भट ने केवल आठ अलंकारों को स्वीकार करने वाले आलंकारिकों का नाम निर्देश किये बिना ही उनके द्वारा स्वीकृत आठ अलंकारों में अन्यतम छेकानुप्रास की भी चर्चा की है ।[1] आचार्य उद्भट के अनुसार जहाँ दो-दो वर्णों का सुन्दर एवं सदृश उच्चारण किया जाए वहाँ छेकानुप्रास होता है । इनके अनुसार जहाँ दो-दो समुदायों में ही परस्पर उच्चारणगत साम्य हो वहाँ छेकानुप्रास होगा, तीन-तीन समुदायों में इन्हें छेकानुप्रास अभीष्ट नहीं है ।[2]

काव्यालंकारसार संग्रह के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार 'छेक' का अर्थ नीड में रहने वाले पक्षी बताए गए हैं जिस प्रकार से उनके उच्चारण में माधुर्य होता है ठीक वैसे ही जिस अनुप्रास में माधुर्य का समावेश हो वहाँ छेकानुप्रास होता है । इसके अतिरिक्त इन्होंने छेक का अर्थ 'विदग्ध' भी किया है जिससे विदित होता है कि जो अलंकार विद्वज्जन को प्रिय हो वह छेकानुप्रास है ।[3]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ अनेक व्यञ्जन का एक बार सादृश्य हो वहाँ छेकानुप्रास होता है ।[4] काव्य प्रकाश के टीकाकार सार बोधिनीकार के अनुसार वर्णों का व्यवधान होने पर भी अनेक व्यञ्जनों का सदृश साम्य होने पर छेकानुप्रास होता है ।[5]

आचार्य अजित सेन छेकानुप्रास का उदाहरण देने के पश्चात् अन्याचार्याभिमत छेकानुप्रास का लक्षण प्रस्तुत किया है ।

उदाहरणः -

रमणी रमणीयाऽसौ मरुदेवी मरुन्मता ।
नाभिराज महानाभिममूमुददनेकेशः ।। अ0चि0 3/7

---

1. अलंकारसारसंग्रह - प्रथम वर्ग, पृ0 - 248
2. काव्यालंकार सारसंग्रह - छेकानुप्रासस्तुद्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ, पृष्ठ - 254
3. लघुवृत्ति - पृ0 - 254
4. सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः । का0पु0 9/106
5. सारबोधिनीकारस्तु व्यवहितस्यापि, अनेकस्य व्यञ्जनस्य सकृत्साम्ये छेकानुप्रासं मन्यमानाः ।

बा0बो0 - पृ0 - 496

उक्त श्लोक के प्रथम चरण में रमणी - रमणी, मरू - मरू तथा द्वितीय चरण में नाभि - नाभि का साम्य है असंयुक्त व्यञ्जनों का साम्य होने से छेकानुप्रास है । इसके अतिरिक्त आचार्य अजितसेन ने अन्य आचार्यानुमोदित छेकानुप्रास की परिभाषा प्रस्तुत की है जिसके अनुसार यह बताया गया है कि जहाँ व्यवधान रहित दो व्यञ्जनों की दो बार आवृत्ति हो वहाँ छेकानुप्रास होता है ।[1] यद्यपि आचार्य अजितसने ने अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य के प्रति संकेत नहीं किया है तथापि इस विवेचन में आचार्य उद्भट कृत परिभाषा का पर्याप्त साम्य परिलक्षित हो रहा है । बहुत संभव है कि आचार्य उद्भट के मत से अजितसेन सहमत रहे हों और उनकी परिभाषा को नाम निर्देश किए बिना सादर स्वीकार कर लिया हो ।

वृत्यनुप्रासः-

वृत्तिओं में होने वाले अनुप्रास को वृत्यनुप्रास के रूप में स्वीकार किया गया है । आचार्य रुद्रट ने समास और असमास भेद से दो भागों में विभाजित किया है । समास को होने वाली वृत्तियों को पुनः तीन भागों में विभाजित किया है पांचाली, लाटी तथा गौणी । जिसमें लघु, मध्यम तथा दीर्घ समास की व्यवस्था की गयी है ।[2]

रुद्रट के पश्चात् अग्निपुराण में भी वृत्तियों का उल्लेख किया गया है जहाँ यह बताया गया है कि वर्णों की आवृत्ति यदि पद अथवा वाक्य में हो तो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है । एक वर्णगत आवृत्ति के इन्होंने पाँच भेद किए हैं - जिसमें - मधुरा, ललिता, प्रोढ़ा, भद्रा तथा परूषा वृत्ति का उल्लेख है । अग्निपुराण में इन वृत्तियों के भेद-प्रभेद का सविस्तार वर्णन है ।[3]

आचार्य उद्भट ने भी परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या वृत्तियों का उल्लेख किया है । परूषा में रेफ के साथ 'ट' वर्ग का संयोग रहता है तथा इसमें

---

1. व्यञ्जनद्वन्द्वयोर्यत्र द्वयोरव्यवधानयोः ।
   पुनरावर्तनं सोऽयं छेकानुप्रास उच्यते ।। अ0चि0 - 3/8

2. रू - काव्यालंकार 2/3-4

3. स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानांपदवाक्ययोः । एकवर्णाऽनेकवर्णावृत्तेर्व्वर्णगुणो द्विधा ।।
   एकवर्णगतावृत्तेर्ज्जायन्ते पञ्च वृत्तयः । मधुरा ललिता प्रौढा भद्रा परुषया सह।।
   (अध्याय-343) अग्निपुराण

श, ष, ह्ल, ह्व, ह्य से युक्त व्यञ्जनों का समावेश भी रहता है ।[1] समानरूप वाले वर्ण जहाँ संयुक्त हो तथा प्रत्येक वर्ग के अन्तिम वर्ण स्पर्श व्यञ्जन से युक्त हो वहाँ उपनागरिका वृत्ति को स्वीकार किया है । परुषा तथा उपनागरिका में प्रतिपादित वर्णों से भिन्न जहाँ स्पर्श कोमल व्यञ्जन की स्थिति हो वहाँ ग्राम्या वृत्ति होती है ।[2]

आचार्य मम्मट ने माधुर्य - व्यञ्जक वर्णों से उपलक्षित वृत्ति को उपनागरिका,[3] ओज गुणों के प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति को परुषा[4] कहा है । ओज - प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति को अन्य आचार्यों ने कोमला भी कहा है । किसी के मत में यह पाञ्चाली वृत्ति भी है । इस कोमलावृत्ति को ही आचार्य उद्भट आदि अतिशय कान्ति के अभाव के कारण ग्राम्य स्त्री से साम्यता प्रतिपादित करते हुए इसे ग्राम्या की अभिधा प्रदान की है किन्तु निष्णात बुद्धि वाले विद्वान इस ग्राम्या की भूरि - भूरि प्रशंसा करते हैं । उक्त वृत्तियों से उपलक्षित अनुप्रास को वृत्यनुप्रास कहा गया है ।[5] आचार्य मम्मट के अनुसार एक व्यञ्जन अथवा अनेक व्यञ्जन को दो बार अथवा अनेक बार सादृश्य होने पर वृत्यनुप्रास होता है ।[6] रूय्यक, शोभाकर मित्र तथा विश्वनाथ कृत परिभाषा मम्मट से प्रभावित है ।[7]

---

1. अलंकारसार संग्रह - पृ0 - 257
2. काव्यालंकार सा0स0; प्रथम वर्ग, पृष्ठ - 257
3. का0प्र0 सूत्र 108
4. वही सूत्र 109
5. बा0बो0 नवम् उल्लास, पृष्ठ - 497
6. एकस्याप्यसकृत्परः ।
   एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्यनुप्रासः।

   का0प्र0 सूत्र 107 एवं वृत्ति
7. (क) अन्यथा तु वृत्यनुप्रासः । अ0स0 सूत्र 5

   (ख) अलंकार रत्नाकर - सूत्र 4 (रूय्यक अनुकृत)

   (ग) सा0द0 10/4

आचार्य अजित सेन के अनुसार जहाँ एक-दो और तीन व्यञ्जन वर्णों की पुनरुक्ति हो वहाँ वृत्यनुप्रास अलंकार होता है । इनकी परिभाषा पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा भिन्न है । इन्होंने वृत्ति में उद्भट, रुद्रट तथा व्यास प्रणीत अग्नि-पुराण की भाँति किसी भी प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख नहीं किया तथा आचार्य मम्मट की भाँति नियतवर्णगत रसव्यापार की भी चर्चा नहीं की ।[1] केवल व्यञ्जनों की पुनरुक्ति में ही इसकी सत्ता स्वीकार कर एक नवीन विचार व्यक्त किया। इनके अनुसार एक व्यञ्जन की पुनरुक्ति, दो व्यञ्जन की पुनरुक्ति तथा तीन व्यञ्जन की पुनरुक्ति या तीन से अधिक व्यञ्जनों की पुनरुक्ति में भी वृत्यनुप्रास स्वीकार है ।[2] इसके अतिरिक्त इन्होंने वृत्यनुप्रास तथा यमक में विद्यमान पुनरुक्ति तत्त्व की मीमांसा करने के लिए यमक से अनुप्रास का भेद भी प्रदर्शित किया है जो इस प्रकार है -

अनुप्रास और यमक अलंकार में भेद:-

अनुप्रास में व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति नियमतः और स्वर वर्णों की आवृत्ति अनियमतः होती है जबकि यमक अलंकार में स्वर और व्यञ्जनों की नियमतः आवृत्ति होती है । यमक में अर्थभेद का नियम भी निहित रहता है जबकि अनुप्रास में ऐसा कोई नियम नहीं है ।[3]

अजित सेन के पूर्ववर्ती उद्भट् रुद्रट मम्मट आदि किसी भी आचार्य ने अनुप्रास तथा यमक का अन्तर स्पष्ट नहीं किया । निश्चित ही अनुप्रास को पृथक् करने की उपर्युक्त दिशा सर्वथा नवीन है ।

यमक अलंकार:-

यमक अलंकार के निरूपण का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य भरत को है ।

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा ।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ।। नाoशाo 17/43

---

1. काoप्रo सूत्र 105 की वृत्ति ।
2. व्यञ्जनानांभवेदेकद्वित्र्यादीनां तु यत्र च ।
 पुनरुक्तिरयं वृत्यनुप्रासो भणितो यथा ।।
 अoचिo 3/10
3. अoचिo 3/11 की वृत्ति ।

उन्होंने उपमा रूपक तथा दीपक के साथ यमक का भी उल्लेख किया है तथा उसके निम्नलिखित दस भेदों का निरूपण भी किया है ।[1] (1) पादान्त यमक, (2) काञ्ची यमक, (3) समुद्गयमक (4) विक्रान्त यमक, (5) चक्रवाल यमक, (6) संदष्ट यमक, (7) पादादि यमक, (8) आम्रेडित यमक, (9) चतुर्व्यवसित यमक तथा (10) माला यमक ।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने समानुपूर्वीक भिन्नार्थक शब्दों की आवृत्ति को यमक के रूप में स्वीकार किया है तथा पाद के आदि, मध्य एवं अन्त में पदों की आवृत्ति का उल्लेख करते हुए संदष्टक और समुद्ग-दो भेदों का उल्लेख किया है । समस्तपाद यमक को दुष्कर कहा है ।[2]

अग्निपुराण में भिन्नार्थ प्रतिपादक अनेक वर्णों की आवृत्ति को यमक के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है साथ ही साथ आवृत्ति के साव्यपेत (व्यवधान से युक्त) एवं अव्यपेत (व्यवधान से रहित) दो भेदों का उल्लेख भी किया है। अग्नि पुराण में भी नाट्यशास्त्र की भाँति दस भेदों का उल्लेख किया गया है ।[3]

आचार्य दण्डी के अनुसार जहाँ वर्ण संघात का अव्यवधान से या व्यवधान से पुनः-पुनः उच्चारण हो वहाँ यमक अलंकार होता है । दण्डी कृत लक्षण में साव्यपेत एवं अव्यपेत वर्णों की आवृत्ति की चर्चा तो अग्निपुराण में प्रतिपादित लक्षणों से तुलित है परन्तु जहाँ अग्निपुराण में अनेक वर्णों की भिन्नार्थक आवृत्ति में यमक अलंकार को स्वीकार किया गया है वहाँ दण्डी इसकी कोई चर्चा ही नहीं करते हैं ।[4] किन्तु इसके भेद-प्रभेदादि का निरूपण नाट्यशास्त्र तथा अग्नि-पुराण से भी अधिक है । इन्होंने यमक के 315 भेदों का उल्लेख किया है ।[5]

---

1. ना0शा0 17/63-65
2. शब्दाः समानुपूर्व्याः (पाठ्यान्तरसमानाभिन्नार्थाः) यमकं कीर्तितं पुनः। संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी0वी0 काणे, पृ0 - 89
3. अग्नि पु0अ0 343
4. काव्यादर्श 3/1
5. काव्यादर्श 3/2-60

प्रस्तुत स्थल पर ग्रन्थ गौरव के भय से उन भेदों का उल्लेख नहीं किया जा रहा है और भेदों में कोई चमत्कार भी निहित नहीं रहता है । भेद तो तत्तद् अलंकारों की स्थिति के ही सूचक होते हैं ।

आचार्य भामह ने अर्थों में परस्पर भिन्न वर्णों की आवृत्ति को यमक कहा है[1] तथा यमक के केवल पाँच भेदों का उल्लेख किया है आदि यमक, मध्यान्त यमक, पादाभ्यास, आवली तथा समस्त पाद यमक । इन्होंने पराभिमत संदष्टक एवं समुद्ग आदि यमक के अन्य भेदों को पूर्वोक्त पाँचों भेदों में अन्तर्भावित किया है ।[2]

आचार्य रुद्रट ने भिन्नार्थक क्रमिक तुल्यश्रुति में यमक अलंकार को स्वीकार किया है । उनके अनुसार यमक का विषय केवल छन्द अर्थात् पद्य है। गद्यात्मक प्रबन्ध मे प्रायः इसका प्रयोग भी नहीं मिलता । इनकी परिभाषा पर भामह का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु केवल छन्द में यमक की स्थिति बताकर इन्होंने एक नया विचार व्यक्त किया है ।[3] इन्होने यमक का विस्तार से वर्णन भी किया है ।[4]

आचार्य भोज कृत परिभाषा दण्डी कृत परिभाषा पर आधारित है ।[5]

आचार्य मम्मट कृत परिभाषा भामह से प्रभावित होते हुए भी किञ्चिद् नवीन है । इनके अनुसार सार्थक तथा भिन्नार्थक वर्णों की पुनः श्रुति में यमक अलंकार होता है ।[6] इनकी परिभाषा में निम्नलिखित तत्त्व निहित हैं -

(1) पदों के सार्थक होने पर भिन्नार्थकता का होना ।
(2) एक पद सार्थक तथा दूसरा निरर्थक होना ।

---

1. तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
   वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ।।

   भा० काव्यालंकार 2/96

2. काव्यांकार भामह, 2/9-10
3. रुद्रट - काव्यालंकार, 3/1
4. रुद्रट - काव्यालंकार 3/1-22
5. स०क०भ० - 2/58 से 67 पूर्वार्द्ध तक ।
6. का०प्र०, सूत्र 117

इन्होंने यमक के 40 भेदों की भी चर्चा की है ।[1]

परवर्ती आचार्यों की परिभाषाएँ प्रायः मम्मट से प्रभावित हैं ।[2]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ श्लोक की आवृत्ति, श्लोक के पाद की आवृत्ति, पद की आवृत्ति, वर्ण की आवृत्ति, भिन्नार्थक और अभिन्नार्थक श्लोक की आदि - मध्य और अन्त की आवृत्ति से युक्त और अयुक्त भी यमकालंकार होता है अर्थात् उक्त आवृत्तियाँ यमक का विषय हैं । आशय यह है कि जहाँ अर्थ की भिन्नता रहते हुए श्लोक - पाद - पद और वर्णों की पुनरावृत्ति होती है वहाँ यमक अलंकार होता है । यह आवृत्ति पाद के आदि, मध्य तथा अन्त में होती है तथा कहीं अन्य पाद व वर्णों से व्यवहित और कहीं अव्यवहित रूप से होती है ।[3]

आचार्य अजित सेन कृत परिभाषा की विशेषताएँ:-

1. श्लोक आवृत्ति में यमक युक्त रूप में ।
2. श्लोक की आवृत्ति में यमक अयुक्त रूप में ।
3. पाद की आवृत्ति में यमक युक्त रूप में ।
4. पाद की आवृत्ति में यमक अयुक्त रूप में ।
5. पद की आवृत्ति में यमक युक्त रूप में ।
6. पद की आवृत्ति में यमक अयुक्त रूप में ।
7. वर्ण की आवृत्ति में यमक युक्त रूप में ।
8. वर्ण की आवृत्ति में यमक अयुक्त रूप में ।

पुनः प्रत्येक के आदि, मध्य तथा अन्त भेद होने से 8×3 = 24 भेद हो जाते हैं ।

डॉ0 नेमिचन्द शास्त्री ने यमक के प्रमुख भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया है -

1. प्रथम और द्वितीय पाद की समानता होने से मुख यमक होता है ।

---

1. का0प्र0 सूत्र - 117 एवं वृत्ति ।
2. (क) प्रतापरुद्रीय (विद्यनाथ) - यमकं पौनरुक्त्ये तु स्वरव्यञ्जनयुग्मयोः।
   (ख) सा0द0 10/8
3. श्लोक पादपदावृत्तिर्वर्णावृत्तिर्युताऽयुता ।
   भिन्नवाच्यादिमध्यान्तविषया यमकं हि तत् ।।

2 प्रथम और तृतीयपाद में समानता होने से संदंश यमक होता है ।
3. प्रथम और चतुर्थपाद में समानता होने से आवृत्ति यमक होता है ।
4. द्वितीय और तृतीयपाद में समानता होने से गर्भ यमक होता है ।
5. द्वितीय और चतुर्थपाद में समानता होने से संदष्टक यमक होता है।
6. तृतीय और चतुर्थपाद में समानता होने से पुच्छ यमक होता है ।
7. चारो चरणों के एक समान होने से पंक्ति यमक होता है ।
8. प्रथम और चतुर्थ तथा द्वितीय और तृतीयपाद एक समान हों तो परिवृत्ति यमक होता है ।
9. प्रथम और चतुर्थ तथा द्वितीय और तृतीयपाद एक समान हों तो युग्मक यमक होता है ।
10. श्लोक का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध एक समान होने से समुद्गक यमक होता है ।
11. एक ही श्लोक के दो बार पढ़े जाने पर महायमक होता है ।

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा पर आचार्य भामह दण्डी तथा अग्नि पुराण का प्रभाव है ।

प्रस्तुत अध्याय के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि आचार्य अजित सेन ने शब्दालंकारों के निरूपण में भी अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। वक्रोक्ति अलंकार के निरूपण में वक्राभिप्राय से अर्थान्तर के कथन में वक्रोक्ति अलंकार व काकु का उल्लेख नहीं किया जिसका परिज्ञान उदाहरण के अवलोकन से ही ज्ञात हुआ कि इन्हें श्लेष तथा काकु दोनों में यह अलंकार अभीष्ट है ।

यमक अलंकार का निरूपण अत्यन्त सुस्पष्ट एवं वैज्ञानिक रीति से किया । श्लोक, पाद, पद, वर्ण की आवृत्ति में यमक अलंकार स्वीकार करते हुए दण्डी आदि पूर्व आचार्यों द्वारा अनुमोदित आदि मध्य तथा अन्त विषयक यमक को भी स्वीकार किया है और यमक में वाच्चार्थ की भिन्नता का भी उल्लेख किया है इसके अतिरिक्त यमक तथा अनुप्रास के अन्तर को भी सुस्पष्ट किया है जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने नहीं किया ।

*****

अध्याय - 5

अलंकारों का वर्गीकरण तथा अर्थालंकारों का समीक्षात्मक विवेचन

अलंकारों का वर्गीकरण:-

अलंकारों के वर्गीकरण के पूर्व अलंकारों के मूल तत्त्व के विषय में विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा । अलंकारों की विवेचना के प्रसंग में यह जानना आवश्यक है कि उनका मूल तत्त्व क्या है ? अलंकारों को काव्यगत चारुत्व का हेतु अथवा शोभा के अतिशय का आधायक कहा गया है । वस्तुतः उक्ति की विचित्रता ही अलंकार होती है जो कि कवि की प्रतिभा से उत्थित होती है । यह उक्ति जब काव्यगत चमत्कार उत्पन्न करती है तो वही अलंकार होता है। अलंकारों के मूल के विषय में आचार्यों ने निम्न मुख्य मत प्रतिपादित किए हैं-

अलंकारों का मूल तत्त्व वक्रोक्ति या अतिशयोक्तिः-

आचार्य भामह के अनुसार अलंकारों का मूल तत्त्व वक्रोक्ति है । इसी वक्रोक्ति के माध्यम से अलंकार भासित होते हैं । यह वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति ही अलंकारों का जीवनाधायक तत्त्व है । इसी लोकातिक्रान्तवाग्विन्यास को अतिशयोक्ति की अभिधा प्रदान की गयी है ।[1]

आचार्य भामह की इस मान्यता का उत्तरवर्ती अलंकारिकों ने भी मुक्त कण्ठ से समर्थन किया है । आचार्य दण्डी ने दृढ़तर शब्दों में कहा है कि-

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।।

का०द० 2/220

बृहस्पति द्वारा प्रशंसित यह अतिशयोक्ति अन्य अलंकारों का भी प्रधान और सर्वश्रेष्ठ आधार है ।

---

1. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।।

भा० काव्यालंकार 2/85

निमित्ततोवचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ।।

भा० काव्या० 2/81

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी उसकी उपादेयता स्वीकार की है ।[1]

काव्यप्रकाशकार ने भी अतिशयोक्ति को अलंकारों का प्राण स्वीकार किया है -

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठतेतां विना प्रायेणा- लंकारत्वायोगात् ।

(का0प्र0 पृ0 - 743)

यह अतिशयोक्ति नामक अलंकार नहीं अपितु अलंकारत्व का बीजभूत तत्त्व है ।

अलंकारों का मूल तत्त्व उपमाः-

आचार्य अप्पय दीक्षित ने उपमा को सब अलंकारों का एकमात्र मूल हेतु माना है । उनके अनुसार अकेली उपमारूपिणी नर्तकी ही विभिन्न अलंकारों की भूमिका को प्राप्त करके काव्य रूपी रंगमञ्च पर नृत्य करती हुई सहृदयों के मनो को आनन्दित करती है ।[2] राजशेखर ने उपमा को अलंकारों में शिरोमणि काव्य सम्पत्ति का सर्वस्व तथा कविवंश की माता कहा है ।

अलंकारों का मूल तत्त्व वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेषः-

आचार्य रूद्रट ने अलंकारों में केवल एक तत्त्व को मूल नहीं माना। उनके अनुसार अलंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है तथा प्रत्येक वर्ग का आधार भिन्न है । कुछ अलंकारों का मूल आधार वास्तविकता है, कुछ

---

1. प्रथमं तावदतिशयोक्ति गर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया ।
   कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां
   पुष्पतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन
   क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् ।

   ध्वन्या0 पृ0 - 259

2. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
   रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ।।

   चित्रमीमांसा पृ0 - 40

कुछ का अतिशय है और कुछ का श्लेष है ।[1] इन्हीं चार मूल आधारों पर उन्होंने अलंकारों को चार वर्गों - वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष में विभक्त किया है ।

अलंकारों का वर्गीकरण:-

ऐतिहासिक वर्गीकरण - संस्कृत वाड्मय के आचार्यों ने अलंकारों के लक्षण पर तो अति विस्तृत विवेचन किया है किन्तु अलंकारों के वर्गीकरण पर विशेष ध्यान नहीं दिया है । अलंकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण के विषय में विचार करने वाले आचार्यों में रुद्रट, रुय्यक, अजितसेन तथा विद्यानाथ प्रमुख हैं ।

आचार्य रुद्रट के पूर्व अलंकारों का निरूपण भामह के काव्यालंकार में प्राप्त होता है किन्तु इनके द्वारा निरूपित अलंकारों में कोई यौक्तिक क्रम नहीं है । बहुत सम्भव है कि इन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निरूपित क्रम को ही स्वीकार किया हो क्योंकि काव्यालंकार में अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख भी प्राप्त होता है ।

आचार्य उद्भट ने छः वर्गों में अलंकारों का निरूपण किया है किन्तु उन वर्गों का नामोल्लेख नहीं किया । प्रत्येक वर्ग के अन्त में अनिश्चय वाचक सर्वनाम केचित्-कश्चित् आदि के द्वारा अलंकारों का परिगणन करके उन्हें भिन्न-भिन्न वर्गों में रखा है ।[2] अतः उद्भट कृत वर्गीकरण को वैज्ञानिक वर्गीकरण के रूप में स्वीकार करना अनुपयुक्त प्रतीत होता है । अतः भामह और उद्भट कृत वर्गीकरण को ऐतिहासिक वर्गीकरण के रूप में स्वीकार करना समीचीन प्रतीत होता है ।

---

1. अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ।
   एशामेव विशेषाः अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ।।

   रूद्रट - काव्यालंकार 7/9

2. (क) इत्येत एवालंकाराः वाचां कैश्चिदुदाहृताः ।

   काव्यालंकारसारसंग्रह 1/2

   (ख) समासातिशयोक्ति चेत्यलंकारानपरे बिदुः ।

   वही - 2/1

   (ग) अपरेत्रीनलंकारान् गिरामाहुरलंकृतौ ।

   वही - 3/1

वैज्ञानिक वर्गीकरण:-

अलंकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का श्रेय आचार्य रुद्रट को प्राप्त है इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष वर्ग में किया ।

वास्तव:-

सादृश्य, अतिशय और श्लेष से भिन्न हृदयावर्जक वस्तु स्वरूप कथन को वास्तव वर्ग के अलंकारों में परिगणित किया है ।[1] इस वर्ग में निम्नलिखित अलंकारों का उल्लेख किया गया है[2]-

(1) सहोक्ति, (2) समुच्चय, (3) जाति (स्वभावोक्ति), (4) यथासंख्य, (5) भाव, (6) पर्याय, (7) विषम, (8) अनुमान, (9) दीपक, (10) परिकर, (11) परिवृत्ति, (12) परिसंख्या, (12) हेतु, (14) कारणमाला, (15) व्यतिरेक, (16) अन्योन्य, (17) उत्तर, (18) सार, (19) सूक्ष्म, (20) लेश, (21) अवसर, (22) मीलित और (23) एकावली ।

औपम्य:-

औपम्य वर्ग के अन्तर्गत उन अलंकारों का परिगणन किया गया है जहाँ प्रकृत वस्तु के समान अप्रकृत वस्तु का विन्यास किया जाता है ।[3]

इस वर्ग में इन्होंने 21 अलंकारों का निरूपण किया है जो इस प्रकार हैं[4] -

(1) उपमा, (2) उत्प्रेक्षा, (3) रूपक, (4) आपह्नुति, (5) संशय, (6) समासोक्ति, (7) मत, (8) उत्तर, (9) अन्योक्ति, (10) प्रतीप , (11) अर्थान्तरन्यास, (12) उभयन्यास, (13) भ्रान्तिमान, (14) आक्षेप, (15) प्रत्यनीक, (16) दृष्टान्त, (17) पूर्व, (18) सहोक्ति, (19) समुच्चय, (20) साम्य, (21) स्मरण ।

---

1. वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनंयत् ।
पुष्टार्थमविपरीतं निरूपममनतिशयश्लेषम् ।।

अतिशय:-

अतिशय वर्ग में उन अलंकारों का निरूपण किया गया है जिनमें लोकातिक्रान्त विषयक वस्तु का वर्णन किया जाता है ।[1] इस वर्ग में 12 अलंकारों का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है[2]-

(1) पूर्व, (2) विशेष, (3) उत्प्रेक्षा, (4) विभावना, (5) अतद्गुण, (6) अधिक, (7) विरोध, (8) विषम, (9) असंगति, (10) पिहित, (11) व्याघात, (12) अहेतु ।

श्लेष:-

श्लेष वर्ग में उन अलंकारों का उल्लेख किया गया है जहाँ एक वाक्य से अनेक अर्थों का विनिश्चय किया जाता है ।[3]

श्लेष वर्ग में 10 अलंकारों का निरूपण किया है[4]-

(1) अविशेष, (2) विरोध, (3) अधिक, (4) वक्र, (5) व्याज, (6) उक्ति, (7) असंभव, (8) अवयव, (9) तत्त्व, (10) विरोधाभास ।

परवर्ती काल में आचार्य रुय्यक ने चित्तवृत्ति के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है संभवत: इसीलिए आचार्य रुद्रट द्वारा निरूपित अतिशय वर्ग के विरोध, विभावना, असंगति, विषम, अधिक और विशेष अलंकारों को विरोध वर्ग के अलंकारों में परिगणित किया है ।

चित्तवृत्ति के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण:-

आचार्य रुय्यक ने मानव चित्तवृत्ति के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है । इनका वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक तथा महत्त्वपूर्ण है । इन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण 7 वर्गों में किया है[5] -

---

1. यत्रार्थधर्मनियम: प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति ।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ।।

रुद्रट - काव्यालंकार 9/1

(1) **साधर्म्यमूलक अलंकारः-** साधर्म्य के तीन भेद होते हैं -

(क) भेद प्रधान, (ख) अभेद प्रधान, (ग) भेदाभेद प्रधान ।

भेद प्रधानः-

(क) व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति ।
(ख) विशेषण विच्छित्ति-समासोक्ति, परिकर ।
(ग) विशेषण-विशेष्य विच्छित्ति-श्लेष ।
(घ) अप्रस्तुत प्रशंसा
(ङ) अर्थान्तरन्यास
(च) पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप ।

(ख) अभेद प्रधान के तीन भेद हैं -

(क) आरोप मूलक
(ख) अध्यवसाय मूलक
(ग) गम्यमान औपम्य-मूलक ।

आरोप मूलकः- रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति ।

अध्यवसाय मूलकः- साध्य - अध्यवसाय मूलक उत्प्रेक्षा तथा सिद्ध - अध्यवसायमूलक अतिशयोक्ति ।

गम्यमान औपम्य मूलकः- पदार्थगत - गम्यमान - औपम्य मूलक तुल्ययोगिता, दीपक तथा वाक्यार्थगत, गम्यमान औपम्य मूलक, प्रतिवस्तुपमा, दृष्टान्त, निदर्शना ।

(ग) भेदाभेद प्रधानः-

1. उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण ।
2. **विरोध मूलकः-** विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात ।
3. **शृंखला मुलकः-** कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार ।
4. **तर्कन्याय मूलकः-** काव्यलिंग, अनुसान ।
5. **वाक्यन्याय मूलकः-** यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय, समाधि ।

6. **लोकन्याय मूलकः-** प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर ।

7. **गूढार्थप्रतीति मूलकः-** सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावसबलता के विवेचन में किसी वर्ग-विशेष का निर्धारण नहीं किया गया । रूय्यक के अनुसार उपर्युक्त अलंकार-विवेचन, चित्तवृत्ति, को दृष्टि में रखकर किया गया है ।[1]

संसृष्टि और संकर को अलंकार संश्लेष पर आधृत कहा गया है।

इस प्रकार 'अलंकार सर्वस्व' में 82 अलंकारों का विवेचन उपलब्ध है ।

आचार्य अजितसेन के अनुसार अलंकारों का वर्गीकरणः-

इसके पूर्व अलंकारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाये अलंकार चिन्तामणि में आए हुए अलंकारों का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है । आचार्य अजितसेन ने कुल 72 अर्थालंकारों का निरूपण किया है ।[2] जिसके नाम इस प्रकार हैं-

(1) उपमा, (2) अनन्वय, (3) उपमेयोपमा, (4) स्मरण, (5) रूपक, (6) परिणाम, (7) सन्देह, (8) भ्रान्तिमान, (9) अपह्नव, (10) उल्लेख, (11) उत्प्रेक्षा, (12) अतिशयोक्ति, (13) सहोक्ति, (14) विनोक्ति, (15) समासोक्ति, (16) वक्रोक्ति, (17) स्वभावोक्ति, (18) व्याजोक्ति, (19) मीलन, (20) सामान्य, (21) तद्गुण, (22) अतद्गुण, (23) विरोध, (24) विशेषक, (25) अधिक, (26) विभाव, (27) विशेषोक्ति, (28) असंगति, (29) चित्र, (30) अन्योन्य, (31) सामान्य, (32) तुल्योगिता, (33) दीपक, (34) प्रतिवस्तूपमा, (35) दृष्टान्त, (36) निदर्शना, (37) व्यतिरेक, (38) श्लेष, (39) परिकर, (40) आक्षेप, (41) व्याजस्तुति, (42) अप्रस्तुतस्तुति, (43) पर्यायोक्ति, (44) प्रतीप, (45) अनुमान, (46) काव्यलिंग, (47) अर्थान्तरन्यास, (48) यथासंख्य, (49) अर्थापत्ति, (50) परिसंख्या, (51) उत्तर, (52) विकल्प, (53) समुच्चय, (54) समाधि, (55) भाविक, (56) प्रेयस,

---

1. तदेते चित्तवृत्तिगतत्वेनालंकारा लक्षिताः ।

अ०स० पृ० - 214

2. अ०चि० - 4/8-17

(57) रसी (रसवद्), (58) ऊर्जस्वी, (59) प्रत्यनीक, (60) व्याघात, (61) पर्याय, (62) सूक्ष्म, (63) उदात्त, (64) परिवृत्ति, (65) कारणमाला, (66) एकावली, (67) द्विकावली, (68) माला, (69) दीपक, (70) सार, (71) संसृष्टि, (72) संकर । उभयालंकार संसृष्टि के अन्तर्गत माना गया है ।

आचार्य अजितसेन के अनुसार अर्थालंकारों को प्रथमतः चार भागों में विभाजित किया गया है ।

(1) प्रतीयमान शृंगार - रस भाव मूलक
(2) स्फुट प्रतीयमान अभाव मूलक
(3) प्रतीयमान वस्तु. मूलक
(4) प्रतीयमान औपम्य मूलक इस प्रकार अर्थालंकृति चार प्रकार की होती है ।[1]

अलंकारों में प्रतीयमान की व्यवस्था:-

(1) **प्रतीयमान शृंगार रस भाव द्विमूलक अलंकार:-** प्रेयस्, रसवद्, ऊर्जस्वी, समाहित और भाविक अलंकारों में रस और भाव आदि की प्रतीति होती है ।

(2) अस्फुट **प्रतीयमान** मूलक अलंकार:- उपमा, विनोक्ति, विरोध, अर्थान्तरन्यास, विभावना, उक्तिनिमित्त विशेषोक्ति, विषम, सम, चित्र, अधिक, अन्योन्यकारणमाला, एकावली, दीपक, व्याघात, माला, काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, अर्थापत्ति, सार, पर्याय, परिवृत्ति, समुच्चय, परिसंख्या, विकल्प, समाधि, प्रत्यनीक, विशेष, मीलन्, सामान्य, संगति, तद्गुण, अतद्गुण, व्याजोक्ति, प्रतिपदोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त अलंकारों में विद्वानों के चित्त को आनन्दित करने वाली वस्तु स्पष्टतया प्रतीयमान नहीं होती ।

(3) प्रतीयमान वस्तु मूलक अलंकार:- व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, परिकर, अनन्वय, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत, प्रशंसा

---

1. प्रतीयमानशृंगाररसभावादिका मता ।
स्फुटा प्रतीयमानाऽन्या वस्त्वौपम्यतदादिके ।।
अ0चि0 4/1

और अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अलंकारों में वस्तु प्रतीयमान होकर काव्यालंकारत्व को प्राप्त होती है ।

(4) **प्रतीयमान औपम्य मूलक अलंकारः-** परिणाम, सन्देह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, स्मरण, अपह्नव, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना, श्लेष और सहोक्ति अलंकारों में औपम्य प्रतीयमान रहता है । इस प्रकार अलंकारों में सादृष्य - विभाग है ।

आचार्य अजितसेन ने अलंकारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है-

1. **सादृश्यमूलक अलंकारः-** उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, अपह्नुति, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति, मीलन, सामान्य, तद्गुण तथा अतद्गुण ।

2. **विरोधमूलक अलंकारः-** विरोध, विशेष, अधिक, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विचित्र, अन्योन्य, विषम तथा सम ।

3. **गम्यौपम्यमूलक अलंकारः-** तुल्योगिता, दीपक ।

4. **वाक्यार्थमूलक अलंकारः-** प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक तथा श्लेष ।

5. **विशेषण वैचित्र्य मूलक अलंकारः-** परिकर, परिकरांकुर, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, आक्षेप, पर्यायोक्त तथा प्रतीप ।

6. **तर्कन्याय मूलक अलंकारः-** अनुमान, काव्यलिंग अर्थान्तरन्यास, यथासंख्य, अर्थापत्ति, परिसंख्या तथा उत्तर ।

7. **वाक्यन्यायमूलक अलंकारः-** विकल्प, समुच्चय, समाधि ।

8. **लोक न्याय मूलक अलंकारः-** भाविक, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, प्रत्यनीक व्याघात, पर्याय सूक्ष्म, उदात्त तथा परिवृत्ति ।

9. **शृंखलान्याय मूलकः-** कारणमाला, एकावली, मालादीपक तथा सार ।

10. **मिश्र अलंकारः-** संसृष्टि, संकर ।

आचार्य अजितसेन ने अलंकारों की परिगणन सूची में 'सम' अलंकार का उल्लेख नहीं किया है किन्तु अलंकारों के वर्गीकरण के प्रसंग में इसे विरोध मूलक अलंकार वर्ग के अन्तर्गत रखा है । आचार्य रुय्यक ने भी इसे विरोध मूलक अलंकारों के मध्य परिगणित किया है ।[1]

अजितसेन के पश्चात् आचार्य विद्यानाथ ने अलंकारों के वर्गीकरण पर गम्भीरता से विचार व्यक्त किया है । इनके वर्गीकरण पर आचार्य अजितसेन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । इन्होंने अजितसेन की भांति प्रथमतः अलंकारों को चार भागों में विभाजित किया है[2] -

1. प्रतीयमान वस्तु मूलक
2. प्रतीयमान औपम्य मूलक.
3. प्रतीयमान रसभावादि मूलक
4. अस्फुट प्रतीयमान

प्रतीयमान वस्तु मूलक अलंकारः- समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, व्याजश्रुति, उपमेयोपमा, अनन्वय, अतिशयोक्ति, परिकर, अप्रस्तुत प्रशंसा, अनुक्तनिमित्ता विशेशोक्ति ।

प्रतीयमान औपम्य मूलक अलंकारः- रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, स्मरण, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, सहोक्ति, व्यतिरेक, निदर्शना और श्लेष ।

---

1. विरोधगर्भतया विरोधविभावनाविशेषोक्त्यतिशयोक्त्यन्तरा-संगतिविषमसमविचित्राधिकान्योन्यविशेषव्याघातद्वयानि ।
   अलंकार सर्वस्व सञ्जीवनी टीका पृ0 - 377

2. अर्थालंकाराण्यं चातुर्विध्यम् । केचित् प्रतीयमानस्तवः । केचित् प्रतीयमानौपम्यः। केचित् प्रतीयमानरसभावादयः । केचिदस्फुट प्रतीयमाना इति ।
   प्रतापरुद्रीय - रत्नापण टीका, पृ0 - 399

प्रतीयमान रसभावादि मूलकः- रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता ।

अस्फुट प्रतीयमान मूलकः- उपमा, विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास, विरोध, विभावना, उक्तगुण निमित्ता विशेषोक्ति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, कारणमाला, काव्यलिंग, अनुमान, सार, यथासंख्य, अर्थापत्ति, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, विशेष, मीलन, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, असंगति, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त - ये अस्फुट प्रतीयमान मूलक अलंकार हैं ।

विद्यानाथ कृत उक्त वर्गीकरण अजितसेन से प्रभावित हैं ।

आचार्य अजितसेन अलंकारों के वर्गीकरण के अनन्तर अलंकारों में होने वाले पारस्परिक अन्तर को भी स्पष्ट किया है जिनका विवेचन इस प्रकार है -

परिणाम और रूपक में भेदः-

आचार्य अजितसेन के अनुसार - परिणाम और रूपक इन दोनों में आरोप किया जाता है । परिणाम में आरोप्य विषय का प्रकृत में उपयोग होता है, पर रूपक में उसका उपयोग नहीं होता, यही भेद है ।[1]

उल्लेख और रूपक में भेदः-

उल्लेख और रूपकालंकारों में आरोप प्रत्यक्ष का आरोप्य स्वाभाव के सम्भव और असम्भव के कारण दोनों में भेद है । अभिप्राय यह है कि दोनों आरोपमूलक अभेद प्रधान सादृश्य गर्भा अर्थालंकार है । निरंगमाला रूपक में अनेक उपमानों का एक उपमेय में आरोप मात्र रहता है, उल्लेख में एक वस्तु का परिस्थिति भेद से अनेकधा वर्णन किया जाता है ।[2]

---

1. परिणामरूपकयोरारोपगर्भत्वेऽप्यारोप्यस्य प्रकृतोपयोगानुपयोगाभ्यां भेदः।
अ0चि0 पृ0 - 114

2. उल्लेखरूपकयोरारोपगोचरस्यारोप्यस्वभावसंभवासंभवाभ्यां वैलक्षण्यम् ।
अ0चि0 पृ0 - 114

भ्रान्तिमान अपह्नुति और सन्देह में अन्तरः-

भ्रान्तिमान, अपह्नव और सन्देहालंकारों में आरोप विषय की भ्रान्ति, असत्य कथन एवं सन्देह के कारण परस्पर भेद है । उक्त तीनों ही सादृश्य गर्भ अभेद प्रधान आरोपमूलक अर्थालंकार है । भ्रान्तिमान् से मिथ्यात्व सादृश्य पर आधारित होता है और सन्देह में मिथ्यात्व की संशयावस्था सादृश्य में स्वयं उत्पन्न होती है । भ्रान्तिमान् के मूल में भ्रान्ति है और सन्देह के मूल में संशय। अपह्नुति में प्रकृत - प्रत्यक्ष को निषेधवाचक शब्दों द्वारा छिपाया जाता है एवं उसमें अप्रकृत का चमत्कारवेष्टित आरोप या स्थापन किया जाता है ।[1]

उपमा, अनन्वय और उपमेयोपमा में भेदः-

उपमा, अनन्वय और उपमेयोपमा नामक अलंकारों में साधर्म्य के वाच्य होने के कारण यद्यपि सादृश्यमूलकता है तो भी तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, व्यतिरेक और दीपकालंकारों में सादृश्य के प्रतीयमान होने के कारण भिन्नता है ।[2]

उपमेयोपमा और प्रतिवस्तूपमा में अन्तरः-

उपमेयोपमा और प्रतिवस्तूपमा अलंकारों में साधारण धर्म के क्रमशः वाच्य और प्रतीयमान होने के कारण भेद है ।[3]

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में परस्पर भेदः-

प्रतिवस्तूपमा में वस्तु तथा प्रतिवस्तु का बिम्बभाव और दृष्टान्त अलंकार में वस्तु-प्रतिवस्तु का प्रतिबिम्ब भाव रहता है । अतः दोनों अलंकारों में परस्पर अन्तर है । आशय यह है कि दोनों ही सादृश्य गर्भ गम्यौपम्याश्रयमूलक वर्ग के वाक्यार्थगत अर्थालंकार है । दोनों के उपमेय - वाक्य और उपमान - वाक्य निरपेक्ष

---

1. भ्रान्तिमदपह्नवसंदेहानामारोपविषयस्य भ्रान्त्यपलापसंशये भेदः ।
अ0चि0 पृ0 - 115

2. उपमानन्वयोपमेयोपमाः साधर्म्यस्य वाच्यत्वात् सादृश्यमूलत्वोऽपि तुल्ययोगितानिदर्शनदृष्टान्तव्यतिरेकदीपकेभ्यो भिन्नाः ।
अ0चि0 पृष्ठ - 115

3. उपमेयोपमाप्रतिवस्तूपमयोः साधारणधर्मस्य वाच्यत्वप्रतीयमानत्वाभ्यां भेदः।
अ0चि0 पृ0 - 115

होते हैं । दृष्टान्त में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है, पर प्रतिवस्तूपमा में वस्तु-प्रतिवस्तुभाव । दृष्टान्त में दो साधर्म्य रहते हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है, प्रतिवस्तूपमा में साधर्म्य एक ही रहता है, केवल दो भिन्न शब्दों द्वारा उनका कथन भर किया जाता है ।[1]

दीपक और तुल्ययोगिता में परस्पर अन्तर:-

दीपक और तुल्ययोगिता में अप्रस्तुत और प्रस्तुत के क्रमशः समस्त और व्यस्त होने के कारण परस्पर भेद हैं । आशय यह है कि दोनों सादृश्यगर्भ गम्यौपम्याश्रयमूलक वर्ग के पदार्थगत अर्थालंकार है । दोनों में एक धर्माभिसम्बन्ध होता है । दोनों सादृश्य, साधर्म्य पद्धति द्वारा निर्दिष्ट होते हैं । दोनों में कथन एक वाक्यगत होता है, पर दीपक में जहाँ प्रस्तुताप्रस्तुत का एक धर्माभिसम्बन्ध होता है, वहाँ तुल्ययोगिता में केवल प्रस्तुत का अथवा केवल अप्रस्तुत का ।[2]

उत्प्रेक्षा और उपमा में अन्तर:-

उत्प्रेक्षा और उपमा में क्रमशः उपमान की अप्रसिद्ध और प्रसिद्धि के कारण भिन्नता है । तात्पर्य यह है कि ये दोनों ही साधर्म्यमूलक अर्थालंकार है, पर उपमा है भेदाभेदतुल्यप्रधान और उत्प्रेक्षा अभेद प्रधान अध्यवसायमूलक है । उपमा में उपमेय और उपमान में साम्यप्रतिपादन किया जाता है और उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है । उपमा में साम्यभाव निश्चित है पर उत्प्रेक्षा में अनिश्चित ।[3]

उपमा और श्लेष में अन्तर:-

उपमा और श्लेष अर्थसाम्य के कारण भिन्न है । क्योंकि श्लेष में शब्दसाम्य होता है ।[4]

---

1. प्रतिवस्तूपमादृष्टान्तौ वस्तुप्रतिवस्तुबिम्बप्रतिबिम्बभावद्वयेन भिद्येते ।
अ०चि० पृ० - 115
2. दीपक तुल्ययोगितयोरप्रस्तुतप्रस्तुतानां समस्तत्व-व्यस्ततवाभ्यां भेदः ।
अ०चि० पृ० - 116
3. उत्प्रेक्षोपमयोरूपमानस्याप्रसिद्ध प्रसिद्धत्वाभ्यां भेदः ।
अ०चि० पृ० - 116
4. उपमाश्लेषौ अर्थसाम्येन च भिद्यते ।
वही - पृ० - 116

उपमा और अनन्वय का अन्तरः-

उपमान और उपमेय के स्वतो भिन्न होने के कारण उपमा और अनन्वय परस्पर भिन्न है । उक्त दोनों भेदाभेद तुल्य प्रधान साधर्म्य मूलक अर्थालंकार है। उपमा में उपमेय और उपमान भिन्न-भिन्न होते हैं अनन्वय में उपमेय ही स्वयं उपमान होता है ।[1]

उपमा और उपमेयोपमा में अन्तरः-

उपमा में उपमान और उपमेय दोनों भिन्न होते हैं और दोनों में समानता का प्रतिपादन किया जाता है किन्तु उपमेयोपमा में उपमेय को उपमान तथा उपमान को उपमेय बना दिया जाता है इसमें तृतीय सदृश वस्तु का सर्वथा अभाव रहता है ।[2]

समासोक्ति और अप्रस्तुत प्रशंसा में अन्तरः-

समासोक्ति में संक्षेप में दो अर्थों का कथन होता है प्रस्तुत अर्थ वाच्य रहता है और अप्रस्तुत व्यंग्य । जबकि अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराई जाती है । अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत वाच्य रहता है और प्रस्तुत व्यंग्य इस प्रकार दोनो ही अलंकारों में दो अर्थों की प्रतीति होती है दोनों परस्पर एक - दूसरे के विपरीत हैं ।[3]

पर्यायोक्ति एवं अप्रस्तुत प्रशंसा में भिन्नताः-

अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्य और व्यंग्य दोनों ही प्रस्तुत होते हैं जबकि अप्रस्तुत प्रशंसा में केवल वाच्यार्थ ही उपस्थित रहता है ।[4]

---

1. उपमानन्वयौ स्वतोभिन्नत्वाभ्यामुपमानोपमेययोर्भिन्नौ ।

   अ0चि0 पृ0 - 116

2. उपमोपमेयोरूपमानोपमेयस्वरूपस्थयौगपद्यपर्यायाभ्यां भेदः ।

3. समासोक्त्यप्रस्तुत प्रशंययोरप्रस्तुतस्य प्रतीयमानत्ववाच्यत्वाभ्यामन्यत्व ।

4. व्यंग्यवाच्यद्वयस्य प्रस्तुतत्वेपर्यायोक्तिः अप्रस्तुतप्रशंसा वाच्यस्याप्रस्तुतत्वे कथ्यते, ततस्ते भिन्ने ।

   अ0चि0, पृ0 - 116

अनुमान एवं काव्य लिंग में भिन्नता:-

अनुमान अलंकार में पक्ष धर्मता और व्याप्ति की स्थिति रहती है जबकि काव्यलिंग में नहीं । काव्यलिंग में कार्य कारण भाव व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं । अनुमान में साध्य-साधन भाव वाच्य होता है । अनुमान में 'कारक' हेतु रहता है जबकि काव्यलिंग में 'ज्ञापक' हेतु ।[1]

सामान्य और मीलन अलंकार में भिन्नता:-

दोनों ही अलंकारों में दो ऐसी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है जिनकी भिन्नता का ज्ञान समानधर्मता के कारण नहीं हो पाता । मीलि मीलित में सबल पदार्थ निर्बल को छिपा लेता है जबकि सामान्य में दोनों इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि उनकी पृथक् प्रतीति नहीं हो पाती । मीलित में दोनों पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता क्योंकि एक-दूसरे को आच्छादित कर लेता है । सामान्य में दोनों पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं पर उनके भेद का ज्ञान नहीं होता है ।[2]

उदात्त और परिसंख्या में भेद:-

परिसंख्या अलंकार में अन्य योग की व्यवच्छेदकता रहती जबकि उदात्त अलंकार में नहीं । परिसंख्या में एक वस्तु के अनेकत्र स्थिति संभव रहने पर भी अन्यत्र निषेध कर एक स्थान में नियमन कर दिया जाता है उदात्त में अन्य का निषेध नहीं किया जाता अपितु लोकोत्तर वभैव अथवा महान चरित्र की समृद्धि का वर्णन वर्ण्य-वस्तु के अंग रूप में किया जाता है ।[3]

समाधि एवं समुच्चय में अन्तर:-

जहाँ काकतालीयन्याय से कारणान्तर के आगमन से कार्य की सिद्धि, सिद्धि हो जाए वहाँ समाधि अलंकार होता है और जहाँ अनेक कारणों के मिलने

---

1. पक्षधर्मत्वव्याप्त्याद्यसंभवादनुमानतो भिन्नं काव्यलिंगम् ।

   अ0चि0, पृ0 - 116

2. साधारणगुणयोगित्वेन भेदादर्शने सति सामान्यम्, उत्कृष्ट गुण योजनहीन-गुणतिरोहितत्वे मीलनम् ।

   वही - पृ0 - 116

3. अन्ययोगव्यवच्छेदेनाभिप्रायाभावादुदात्तस्य परिसंख्यातोऽन्यत्वम् ।

से कार्य सिद्ध सम्पन्न हो वहाँ समुच्चय अलंकार होता है । समुच्चय में कार्य सिद्धि के लिए एक समर्थ साधक के रहते हुए भी साधनान्तर का कथन किया जाता है ।[1]

व्याजस्तुति एवं अपह्नुति में भेद:-

व्याजस्तुति में असत्य कथन प्रतीयमान रूप में रहता है और अपह्नुति में वाच्य रूप ।[2]

परवर्ती काल में आचार्य विद्यानाथ ने भी अलंकारों के वर्गीकरण के पश्चात् कतिपय अलंकारों के पारस्परिक विलक्षणता के कारणों का निरूपण किया है ।[3] इनका यह निरूपण अजितसेन से पूर्णरूप से प्रभावित है । यहाँ तक कि अलंकारों का अनुक्रम भी वही रखा गया है, जो अजितसेन की अलंकार चिन्तामणि में प्रतिपादित है ।

अर्थालंकारों का समीक्षात्मक अध्ययन:-

प्रस्तुत अध्याय में अलंकार चिन्तामणि में निरूपित अर्थालंकारों की समीक्षा अलंकारों के वर्गीकरण के क्रम से की जा रही है जिसमें प्रथम: सादृश्यमूलक अलंकारों का निरूपण किया जा रहा है इस वर्ग में निम्नलिखित अलंकार हैं-

साधर्म्य मूलक अलंकार:-

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्त, स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति, मीलन, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण ।

---

1. कार्यसिद्धौ काकतालीयत्वेन कारणानतरसंभवे समाधि: । सिद्धावहमहमिकया हेतूनां बहुनां व्यापृतौ समुच्चय: ।
2. व्याजस्तुव्यपह्नुत्योरपलापस्य गम्यवाच्यत्वाभ्यां श्लेषाणां भेद: सुगम:।
3. प्रतापरुद्रीयम् - रत्नापण टीका पृ0 - 401-403

(1) **उपमा:-**

उपमा अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में किया गया है उन्होंने रूपक, दीपक तथा यमक के साथ उपमा का भी उल्लेख किया है । जिनमें सर्वप्रथम निरूपण उपमा अलंकार का ही है -

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा ।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ।।

ना0शा0 - 17/43

भरतमुनि के अनुसार जहाँ गुण और आकृति के आधार पर किञ्चित् साम्य होने पर भी सादृश्य की प्रतीति कराई जाए वहाँ उपमा अलंकार होता है।[1]

आचार्य भामह की परिभाषा में किञ्चत् नवीनता है । इनके अनुसार जहाँ विरुद्ध (भिन्न) उपमान के साथ देश-काल एवं क्रियादि के द्वारा साम्य स्थापित किया जाए वहाँ उपमा अलंकार होता है । इन्होंने भामह के 'यत्किञ्चित्' पद के आशय को 'गुणलेशेन' पद के माध्यम से व्यक्त किया ।[2]

आचार्य दण्डी भी भरत और भामह की भाँति कथञ्चित् सादृश्य में उपमा अलंकार को स्वीकार करते हैं ।[3]

आचार्य उद्भट 'चेतोहारि' साधर्म्य में उपमा को स्वीकार कर एक नया विचार व्यक्त किया है क्योंकि इनके पूर्ववर्ती भरत भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने इसका उल्लेख नहीं किया ।[4]

---

1. यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
   उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृति समाश्रया ।। ना0शा0 17/44
2. विरूद्धेनोपमानेन देशकाल क्रियादिभिः ।
   उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ।। भा0काव्या0 - 2/30
3. यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।
   उपमानाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते ।। का0द0 2/14
4. यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः ।
   मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोरूपमा तु तत् ।। का0लं0सा0 सं0 - 1/15

वामन की कृत परिभाषा भामह से प्रभावित है ।[1]

आचार्य मम्मट के अनुसार उपमान तथा उपमेय में भेद होने पर भी जहाँ दोनों के साधर्म्य का प्रतिपादन किया जाए वहाँ उपमा अलंकार होता है ।[2] लक्षण में भेद पद का उल्लेख अनन्वय अलंकार की व्यावृत्ति के लिए किया गया है क्योंकि अनन्वय में उपमेय तथा उपमान दोनों एक ही होते हैं किन्तु उपमा में इन दोनों का भिन्न होना नितान्त आवश्यक है ।

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ उपमान के द्वारा उपमेय का साम्य स्थापित किया जाए वहाँ उपमा अलंकार होता है ।[3] इन्होंने उपमान को लोक प्रसिद्ध होना आवश्यक बतलाया है । प्रसिद्ध उपमान के अभाव में इन्हें उपमा अलंकार अभीष्ट नहीं है । यदि कारिका में 'स्वतः सिद्धेन' का उल्लेख न होता तो उत्प्रेक्षा अलंकार में भी इस लक्षण की प्रसक्ति हो जाती क्योंकि उत्प्रेक्षा अलंकार में उपमान का प्रसिद्ध होना आवश्यक नहीं होता इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपमान के स्वतः सिद्ध होने पर उपमा तथा स्वतः असिद्ध या अप्रसिद्ध होने पर उत्प्रेक्षा अलंकार होता है । इसके अतिरिक्त इन्होंने उपमान को स्वतः भिन्न भी बताया है जिससे अनन्वय अलंकार का निराकरण हो जाता है । उपमान के स्वतः भिन्न होने का उल्लेख तो आचार्य मम्मट ने भी किया है किन्तु उनकी परिभाषा में स्वतः सिद्धेन का उल्लेख नहीं है । निश्चित ही इस पद का उल्लेख करके आचार्य अजितसेन ने एक नया विचार किया । कारिका में प्रयुक्त धर्मतः पद के निबन्धन से श्लेषालंकार की निवृत्ति हो जाती है क्योंकि श्लेष अलंकार में भी शब्द साम्य रहता है अतः उसे भी उपमा अलंकार स्वीकार किया जा सकता था किन्तु धर्मतः पद के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म-साम्य होने पर ही उपमा सम्भव है शब्द साम्य में नहीं ।

> 'धर्मतः इत्यनेन श्लेषनिरासः । श्लेषालंकारे शब्द साम्यमात्रस्यांगीकारात्।
> न गुण क्रियासाम्यस्य ।'
>
> अ०चि० पृ० - ।2।

---

1. उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ।

   काव्या० सू० 4, 2, ।

2. साधर्म्यमुपमाभेदे ।

   का०प्र० - ।0/87

3. वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वतः सिद्धेन धर्मतः ।
   भिन्नेन सूर्यभीष्टेन वाच्य यत्रोपमैकदा ।।

कारिका में निबद्ध 'साम्यमन्येन वर्ण्यस्य' - वाक्य के द्वारा प्रतीप अलंकार की व्यावृत्ति हो जाती है क्योंकि प्रतीप अलंकार में उपमान काल्पनिक रहता है और वहाँ उपमेय का अप्रकृत के साथ साधर्म्य स्थापित किया जाता है । जो निम्नलिखित पंक्ति में स्पष्ट है -

'प्रतीपे उपमानत्वकतपनादुपमेयस्य प्रकृतेन सहाप्रकृतस्य साधर्म्यवर्णनात्।'
अ0चि0 पृ0 - 121

साम्य के उल्लेख से उपमेयोपमा अलंकार का निराकरण हो जाता है क्योंकि उपमा में एक बार सादृश्य का प्रतिपादन किया जाता है और उपमेयोपमा में अनेकबार सादृश्य प्रतिपादित रहता है ।

'साम्यमित्यनेनोपमेयोपमानिराकरणम् ।
तस्यामुपमानोपमेययोरनेकदा सादृश्यवचनात्' । अ0चि0 पृ0 - 122

इसके अतिरिक्त 'सूर्यभीष्टेन' पद का भी उल्लेख किया है जिससे विदित होता है कि इन्हें विद्वज्जनाभिमत स्थल पर ही उपमा अभीष्ट है । यदि उक्त पद का उल्लेख न किया गया होता तो हीनोपमा में भी लक्षण की प्रसक्ति हो जाती । अतः हीनोपमा में लक्षण - प्रसक्ति के निवारण के लिए ही सूर्यभीष्टेन पद का उल्लेख किया गया है । कारिका में प्रयुक्त 'वाच्यम्' पद भी महत्त्वपूर्ण है । इस पद के उल्लेख से यह विदित होता है कि जहाँ उपमा वाचक इव, यथा, वा आदि का प्रयोग हो उसी स्थल पर इन्हें उपमा अभीष्ट है । प्रतीयमानोपमा तथा रूपक के निराकरण के लिए ही 'वाच्यं' पद का उल्लेख किया गया है ।[1] भरत से अजितसेन तक उपमा अलंकार के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अजितसेन कृत परिभाषा में जिन अभिनव तत्त्वों का उन्मीलन हुआ है उन तत्त्वों का उन्मीलन पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषाओं में नहीं हो सकता है ।

आचार्य विद्यानाथकृत परिभाषा आचार्य अजितसेन से पूर्णतः प्रभावित है । जहाँ अजितसेन ने सूर्यभीष्टेन पद का उल्लेख किया है वहाँ विद्यानाथ ने 'संम्मतेन' पद का । शेष अंशों में प्रायः पूर्ण साम्य दृष्टिगोचर होता है ।[2]

---

1. 'वाच्यमित्यनेन केषांचिद्रूपकादिप्रतीयमानौपम्यानां निरासः ।'
अ0चि0 पृ0 - 122

2. स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः ।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ।।
प्रतापरुद्रीयम् - पृ0 - 415

भेदः- आचार्य अजितसेन ने पूर्णा तथा लुप्ता रूप से उपमा को दो भागों में विभाजित किया है ।[1]

पूर्णोपमाः-

इनके अनुसार जहाँ उपमान, उपमेय, विशेष धर्म तथा सादृश्य वाचक पदों का उल्लेख हो वहाँ पूर्णोपमा अलंकार होता है ।[2] 'पूर्णा' को पुनः इन्होंने श्रौती और आर्थी रूप से दो भागों में विभाजित किया है । पुनः प्रत्येक के वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत भेदों को भी स्वीकार किया है इसलिए 2×3 = 6 भेद पूर्णोपमा अलंकार के हो जाते हैं ।[3]

लुप्तोपमाः-

जहाँ उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और सादृश्य वाचक शब्दों में से एक दो या तीनों के लुप्त रहने पर लुप्तोपमालंकार होता है ।[4] इन्होंने लुप्तोपमा के निम्नलिखित भेद किए हैं[5]-

1. वाक्यगता अनुक्तधर्मा श्रौती लुप्तोपमा
2. समासगता अनुक्तधर्मा श्रौती लुप्तोपमा
3. वावयगता अनुक्तधर्मा आर्थी लुप्तोपमा
4. समासगता अनुक्तधर्मा आर्थी लुप्तोपमा
5. तद्धितगता अनुक्तधर्मा आर्थी लुप्तोपमा
6. अनुक्त धर्म और लुप्तोतमा
7. कर्मणमा अनुक्तधर्मा लुप्तोपमा
8. कर्तृणमा अनुक्तधर्मा लुप्तोपमा
9. क्विपा अनुक्तधर्मा लुप्तोपमा

---

1. सा तप्वद् द्विधा, पूर्णोपमा लुप्तोपमा चेति । अ0चि0 पृ0 - 124
3. अ0चि0 1/28
3. अ0चि0 4/30, 31
4. अ0चि0 4/29
5. दृष्टव्य अ0चि0, चतुर्थपरिच्छेद, पृ0 - 127-131

10. कर्मक्यच् अनुक्तधर्मा लुप्तोपमा
11. क्यच् अनुक्तधर्मा लुप्तोपमा
12. अकथित उपमान लुप्तोपमा
13. समासगा लुप्तोपमा
14. वाक्यधर्मोपमानिका समासगा लुप्तोपमा
15. अनुक्तधर्मा इवादि सामान्यवाचक लुप्तोपमा

इसके अतिरिक्त इन्होंने उपमा के अन्य भेदों का भी उल्लेख किया है जो प्राय: दण्डी द्वारा निरूपित किए जा चुके हैं इस प्रकार की उपमाओं के विभाजन का आधार साधारण धर्म का उत्कर्ष तथा अपकर्ष के अतिरिक्त उपमानों एवं साधारण धर्मों की अनेकता भी है । ये उपमाएँ निम्नलिखित है[1] -

धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, अतिशयोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निश्चयोपमा, श्लेषोपमा, सन्तानोपमा, निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, चाटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, असाधारणोपमा, अभूतोपमा, असम्भावितोपमा, विक्रियोपमा, प्रतिवस्तूपमा, तुल्योगोपमा, हेतूपमा, मालोपमा ।

आचार्य अजितसेन द्वारा निरूपित उक्त उपमा भेद आचार्य दण्डी के ही समान है ।[2] इन्होंने दण्डी द्वारा निरूपित उत्प्रेक्षितोपमा, निर्णयोपमा, समानोपमा, बहूपमा, के अतिरिक्त अन्य सभी भेदों को सादर स्वीकार कर लिया है ।

इसके अतिरिक्त व्याकरणिक उपमाएँ भी उद्भट और मम्मट से प्रभावित हैं ।[3]

उपमावाचक पदों का निर्देश:-

आचार्य अजितसेन ने उपमा के वाचक पदों का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार है - इव, वा, यथा, समान, निभ, तुल्य, संकाश, नीकाश, प्रतिरूपक,

---

1. दृष्टव्य अ0चि0 चतुर्थ परिच्छेद पृ0 133-139
2. काव्यादर्श 2/14-41
3. (क) काव्या0 सा0 स0 1/19-20
   (ख) का0प्र0 दशम् उल्लास

प्रतिपक्ष, प्रतिद्वन्द्व, प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक, सदृश, सम, संवादि, सजातीय, अनुवादि, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छन्द, सरूप, सम्मित, सलक्षणभ, सपक्ष, प्ररण्य, प्रतिनिधि, सवर्ण, तुलित शब्द और कल्प, देशीय, देश्य, वत् इत्यादि प्रत्ययान्त तथा चन्द्रप्रभादि शब्दों में समास का उपमा में प्रयोग करने योग्य शब्द उपमा (सादृश्य) वाचक हैं ।[1] उपर्युक्त वाचक पदों की संख्या तथा निरूपण क्रम दण्डी के ही समान है ।[2]

साधारण धर्म का निर्देशः-

सादृश्य मूलक काव्यालंकारों में धर्म का निर्देश तीन प्रकार से होता है ।[3]

(1) **अनुगामी धर्मः-** उपमेय एवं उपमान से एक रूप से स्थित साधारण धर्म के अनुगामी धर्म कहते हैं । यह जिस रूप में उपमान में होता है उसी रूप में उपमेय में भी देखा जाता है । इस रूप में उपमेयोपमान में साधारण धर्म का प्रयोग एक ही बार होता है ।

(2) **वस्तुप्रतिवस्तुभावः-** जब साधारण धर्म उपमेय एवं उपमान में एक होने पर भी भिन्न - भिन्न वाक्यों में विभिन्न शब्दों द्वारा प्रकट हो तो वहाँ वस्तु प्रतिवस्तु भाव धर्म होता है । यह शुद्ध न होकर बिम्बप्रतिबिम्बभाव से मिश्रित होता है ।

(3) **बिम्ब प्रतिबिम्ब भावः-** उपमेय एवं उपमान वाक्यों में धर्म का भिन्न-भिन्न होना, बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है । पर, दोनों में धर्म की भिन्नता के होने पर भी पारस्परिक सादृश्य के कारण उनमें अभिन्नता स्थापित हो जाती है ।

उपमा का औचित्यः-

आचार्य अजितसेन ने उपमा के दोषों पर भी विचार व्यक्त किया है।

---

1. दृष्टव्य अ0चि0 चतुर्थ परिच्छेद पृ0 - 140
2. दृष्टव्य काव्यादर्श परिच्छेद 2/57-60
3. (क) पूर्णायां क्वचचिद् साधारणधर्मस्यानुगामितया निर्देशः । चि0मी0 पृ0-86
   (ख) एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरूपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः । वही. - 89

इनके अनुसार लिंग, वचन, अधिकत्व तथा हीनता के होने पर भी यदि सहृदयजनों को उद्वेग न हो तो ये दोषोत्पादक नहीं होते । अतः क्रिया साम्य गुण साम्य तथा प्रभाव साम्य का औचित्य उपमा निबन्धन में परमावश्यक बताया गया है ।[1]

उपमा और अर्थान्तरन्यास का अन्तरः-

उपमा अलंकार में सामान्य धर्म का ही विन्यास होता है जबकि अर्थान्तरन्यास में प्रस्तुतार्थ के साधन में समर्थ सदृश अथवा असदृश वाक्य का विन्यास किया जाता है ।

अस्यां समानधर्मस्यैव न्यसनम् अर्थान्तरन्यासालंकारे तु प्रस्तुतार्थसाधनक्षमस्य सदृशस्य वा असदृशस्यं वा न्यसनमिति सा भिन्ना तस्मात् । अ0चि0 पृ0 - 138

अनन्वयः-

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ एक ही वस्तु परस्पर उपमान और उपमेय बन जाए और उसमें असादृश्य की विवक्षा रहे तो वहाँ अनन्वय अलंकार होता है ।[2] आचार्य दण्डी की असाधारणोपमा में अनन्वय का स्वरूप देखा जा सकता है ।[3]

परवर्ती आचार्य उद्भट वामन, मम्मट, रूय्यक, विश्वनाथ, पं0 राज जगन्नाथ आदि की परिभाषाएँ भामह से प्रभावित है ।[4]

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा सरल सुबोध तथा स्पष्ट है । इनके अनुसार जहाँ द्वितीय अर्थ की निवृत्ति के लिए एक ही वस्तु या पदार्थ में उपमानोपमेय भाव का प्रयोग किया जाए वहाँ अनन्वयालंकार

---

1. न लिंगं न वचो भिन्नं नाधिकत्वं न हीनता ।
   दूषयत्युपमा यत्र नोद्वेगो यदि धीमताम् ।। अ0च0 4/90
   तुलनीय - काव्यादर्श
   न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा ।
   उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् । 2/51
2. भा0 काव्या0 3/45
3. का0द0 2/55
4. (क) का0लं0सा0स0 - 6/4
   (ख) एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः । का0लं0सू0 - 4/3/14
   (ग) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैक वाक्यगे अनन्वयः । का0प्र0 - 10/9

होता है ।[1] अनन्वय का शाब्दिक अर्थ है - न विद्यतेऽन्वयो यत्र सोऽनन्वयः। जिसका अन्वय न हो । दूसरे उपमान के साथ उपमेय की यहाँ तुलना नहीं की जाती । उपमेय स्वयं उपमान भी हो जाता है, अतः अन्य उपमानों का निराकरण कर देता है । इस प्रकार स्वयं अपने ही साथ अन्य वस्तुओं का सादृश्य संभव हो जाता है ।

उपमेयोपमाः-

इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भामह ने किया है । इनके अनुसार जहाँ क्रम से उपमान को उपमेय, उपमेय को उपमान बना दिया जाय वहाँ उपमेयोपमा अलंकार होता है ।[2] आचार्य दण्डी ने इसे स्वतंत्र अलंकार न मानकर अन्योन्योपमा नाम से उपमा के ही एक भेद के रूप में स्वीकार कर लिया है।[3] परवर्ती आचार्य उद्भट, वामन, मम्मट, रूय्यक, शोभाकर मित्र आदि की परिभाषाएँ भामह से प्रभावित है ।

आचार्य अजितसेन की परिभाषा भी तात्विक दृष्टि से भामह, मम्मटादि आचार्यों के समान है किन्तु प्रतिपादन शैली में किञ्चित् नव्यता है । इनके अनुसार जहाँ उपमान और उपमेय की स्थिति पर्याय क्रम से हो वहाँ उपमेयोपमा अलंकार होता है ।[4] उपमेयोपमा अलंकार में तृतीय सदृश वस्तु का सर्वथा अभाव रहता है ।[5] उपमेयोपमा की सृष्टि दो वाक्यों में होती है । प्रथम वाक्य में जो वस्तु या पदार्थ उपमेय रहता है द्वितीय वाक्य में उसे उपमान बना दिया जाता है । उपमेयोपमा अलंकार में 'उपमेयेन उपमा' अर्थात् उपमेय से ही उपमा दी जाने के कारण इस अलंकार को उपमेयोपमा की अभिधा प्रदान की गयी है ।

(ङ) सा0द0 10/26

(च) द्वितीय सदृशव्यवच्छेदफलकवर्णन विषयीभूतयदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः । र0गं0 पृ0 - 270

1. द्वितीयार्थनिवृत्यर्थो यत्रैकस्यैव रच्यते ।
   उपमानोपमेयत्वं मनोऽनन्वय इत्यसौ ।। अ0चि0 4/98
2. भा0 काव्या0 3/37
3. काव्यादर्श परि0 - 2
4. पर्यायेणोपमानोपमेयत्वमवमश्यते ।
   द्वयोर्यत्र स्फुटं सा स्यादुपमेयोपमा यथा । अ0चि0 4/100
5. र0गं0 पृ0 - 262

आचार्य अजितसेन ने उपमेयोपमा के निरूपण में यह भी बताया है कि इस अलंकार को कतिपय आचार्य अन्योन्योपमा भी कहते हैं[1] किन्तु अन्योन्योपमा को स्वीकार करने वाले आचार्यों का नामोल्लेख नहीं किया । इससे विदित होता है कि आचार्य दण्डी द्वारा निरूपित अन्योन्योपमा आचार्य अजितसेन कृत उपमेयोपमा से अभिन्न है ।

आचार्य विद्याधर कृत परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[2]

स्मरणः -

आचार्य भामह दण्डी उद्भट और वामन ने इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया है । इसकी उद्भावना का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट को है उनके अनुसार जहाँ वस्तु विशेष को देख करके पुनः तत्सदृशवस्तु को देखने पर व्यक्ति को पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण हो जाए वहाँ स्मरणालंकार होता है ।[3]

आचार्य रुद्रट की परिभाषा में निरूपित स्मरण अलंकार का स्रोत उद्भट कृत काव्यलिंग अलंकार में निहित है ।[4]

परवर्ती आचार्यों की परिभाषाएँ प्रायः रुद्रट से प्रभावित हैं ।[5]

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा पर भी रुद्रट का प्रभाव परिलक्षित होता है इनके अनुसार जहाँ सदृश पदार्थों के दर्शन से जहाँ वस्त्वन्तर की स्मृति हो वहाँ स्मरणालंकार होता है । इस अलंकार में किसी सुन्दर या असुन्दर वस्तु को देखने से पूर्वानुभूत किसी सुन्दर या असुन्दर वस्तु का स्मरण हो जाए तो वहाँ स्मरणालंकार होता है ।[6]

---

1. एषां केषांचिदन्योऽन्योपमैव । अ0चि0 चतुर्थ परिच्छेद पृ0 - 142
2. पर्यायेण द्वयोस्तस्मिन्नुपमेयोपमा मता । प्रतापरुद्रीयम् पृ0 - 441
3. वस्तुविशेषं दृष्ट्वा पतिपत्तास्मरति यत्र तत्सदृशम् ।
   कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम् ।। रुद्रट काव्या0 8/109
4. श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्यवा ।
   हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिंग तदुच्यते ।। काव्या0सा0सं0 6/7
5. (क) का0प्र0, सू0 198 10/132, (ख) प्रताप0 पृ0 - 441, (ग) चि0मी0, पृ0 - 50, (घ) र0गं0, पृ0 - 286-91
6. सदृशस्य पदार्थस्य सदृग्वस्त्वन्तरस्मृतिः ।
   यत्रानुभवतः प्रोक्ता स्मरणालंकृतिर्यथा ।। अ0चि0 4/102

रूपकः-

भरतमुनि से लेकर पं0 राज जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने इसका उल्लेख किया है । भरतमुनि के अनुसार गुण के आश्रय से किञ्चिद् सादृश्य को स्वविकल्प रूप प्रदान करना रूपक अलंकार है ।[1]

भामह के अनुसार जहाँ गुणों की समता को देखकर उपमान के साथ उपमेय के तादात्म्य का आरोप हो वहाँ रूपक अलंकार होता है । इसमें उपमेय तथा उपमान का अभेद कथन प्रायः गुण साम्य पर आधारित रहता है ।[2]

आचार्य दण्डी के अनुसार भेद रहित उपमा ही वस्तुतः रूपक है । इनका आशय यह है कि यदि उपमा से वाचक पद और साधारण धर्म को निकाल दिया जाए तो वह रूपक अलंकार का रूप धारण कर लेती है । आचार्य उद्भट के अनुसार गुणवृत्ति की प्रधानता के कारण एक पद का अन्य पद के साथ योग होना ही रूपक है । इनकी रूपक की परिभाषा गौणी लक्षणा पर आधारित है।[3] आचार्यवामन ने भामह एवं दण्डी के विचारों का सार ग्रहण करते हुए रूपक के लक्षण का निर्माण किया है ।[4] आचार्य रुद्रट के अनुसार उपमानोपमेय में गुणों की समानता के कारण अभेद की कल्पना तथा सामान्य धर्म का निर्देश न होना ही रूपक है ।

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ उपमान एवं उपमेय में भेद प्रदर्शित होने पर भी दोनों साम्य के कारण अभेद का आरोप हो वहाँ रूपक अलंकार होता है ।[6]

---

1. ना0शा0 16/57-58
2. उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य रूप्यते । गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नामतद्विदुः।
भा0 काव्या0 2/2
3. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते - काव्यादर्श 2/36
4. उपमानोपमेयस्यगुणसाम्यात् तत्त्वारोपोरूपकम् । काव्या0 सू0 4, 3, 6
5. रुद्रट काव्या0 8/38
6. तद्रूपकभेदोपमानोपमेययोः अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेदः ।
का0प्र0 10/93

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा पूववर्ती आचार्यों से भिन्न है । इनके अनुसार अतिरोहित रूप वाले आरोप विषय का जहाँ आरोप्य या उपमान के द्वारा उपरञ्जन हो वहाँ रूपक अलंकार होता है । आरोप वस्तुतः दो प्रकार से संभव है (1) अभेद रूपक (2) तद् रूपक ।

'मुखं चन्द्रः' इत्यादि उदाहरण में आरोप का विषय मुख है आरोप्य चन्द्रमा है । कारिका में आए हुए 'अतिरोहितरूपस्य व्यारोप विषयस्य यत्' के द्वारा यह बताया गया है कि तिरोहित रूप वाले संदेहालंकार, भ्रान्तिमान् अलंकार और अपह्नुति अलंकार में रूपक अलंकार की स्थिति संभव नहीं है । यद्यपि उक्त तीनों के ही स्थलों पर विषय का आरोप होता है किन्तु वह तिरोहित रूप वाला रहता है । किन्तु रूपक में विषय (उपमेय), सर्वथा अतिरोहित रूप वाला रहता है और आरोप्यमाण उपमान के द्वारा उसका उपरञ्जन कर दिया जाता है।

'व्यारोपविषयस्य' इस पद के सन्निधान से अध्यवसाय, गर्भाउत्प्रेक्षा तथा अनारोप हेतुक उपमादि अलंकारों की व्यावृत्ति हो जाती है ।

उपरञ्जक पद के उल्लेख से परिणाम अलंकार की व्यावृत्ति हो जाती है कयोंकि परिणाम में आरोप्यमाण प्रकृतोपयोगी हो जाता है न कि उपरञ्जक। अतः सादृश्य हेतुक अन्य सभी अलंकारों से रूपक अलंकार की भिन्नता सिद्ध हो जाती है ।

भेदः- आचार्य अजितसेन ने इसके तीन भेदों का उल्लेख किया है -

(1) सावयव रूपक, (2) निरवयव रूपक, (3) परम्परित रूपक

पुनः सावयव रूपक के समस्त वस्तु विषयक तथा एक देश विवृर्ती रूप से दो भेद हो जाते हैं । निरवयव रूपक को भी 'केवल' और 'माला' रूप से दो भागों में विभाजित किया है । इसी प्रकार से परम्परित रूपक के भी श्लिष्ट हेतुक तथा 'अश्लिष्ट हेतुक' दो भेदों का उल्लेख किया है । इन दोनों के भी 'केवल' और 'माला' रूप से दो भेद बताए गए है । अतः रूपक के प्रत्येक भेदों का परिगणन करने से रूपक के आठ भेद हो जाते हैं ।

प्रत्येक के वाक्यगत तथा समासगत दो अन्य भेदों का भी उल्लेख किया है इस प्रकार 8×2 = 16 भेद रूपक के हो जाते हैं[1] -

---

1. अ0चि0 पृ0 - 143 परि0 4

परवर्ती आचार्य विद्यानाथ ने भी किंचित् शाब्दिक परिवर्तन के साथ अजितसेन कृत परिभाषा को ही उद्धृत कर दिया है ।[1]

परिणामः- इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य रूय्यक ने किया है । इनके अनुसार जहाँ आरोप्यमाण अर्थात् उपमान, आरोप विषय प्रकृत के लिए उपयोगी हो वहाँ परिणाम अलंकार होता है ।[2]

प्रकृत की उपयोगिता में उपमान का परिणत हो जाना ही इसका मुख्य कार्य है । साथ ही साथ उपमान को प्रकृतोपयोगी होना भी आवश्यक है। जैसे 'सःकरकमलेन लिखति' यहाँ पर 'कर' में 'कमल' का आरोप है । साथ ही साथ कमल में जो लेखन की सामर्थ्य नहीं है, वह भी समाहित हो गयी है । यहाँ उपमान उपमेय के साथ परिणत होकर कार्य कर रहा है । ऐसे ही स्थलों पर परिणाम अलंकार होता है ।

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा किञ्चित् रूय्यक से प्रभावित है इन्हें भी रूय्यक की ही भाँति उपमा की प्रकृत उपयोगिता अभीष्ट है । उपमान के प्रकृतापयोगी हो जाने पर यह परिणाम अलंकार प्रायः सभी अलंकारों से भिन्न हो जाता है ।

आचार्य अजितसेन ने एकार्थी व अनेकार्थ रूप से इसके दो भेदों का उल्लेख भी किया है । आरोप्य की प्रकृतोपयोगिता दो प्रकार से संभव है - सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से और वैयधिकरण्य सम्बन्ध से । उपमान और उपमेय के अभेद में रूपक की सत्ता होती है और इसमें अभेद होने के साथ-साथ उपमान का क्रिया के साथ सम्बन्ध भी बताया जाता है ।[3]

आचार्य रूय्यक ने एकार्थी तथा अनेकार्थादि भेदों का उल्लेख नहीं किया है और सामान्याधिकरण्य तथा वैयधिकरण्य का भी उल्लेख नहीं किया । आचार्य अजितसेन ने उक्त भेदों की कल्पना करके अलंकार शृंखला में वृद्धि की है ।

---

1. प्रतापरुद्रीय - पृ0 - 442
2. आरोपमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः । अ0स0 पृ0 28 व वृत्ति।
3. आरोपविषयत्वेनारोप्यं यत्रोपयोगि च ।
   प्रकृते परिणामोऽसौ द्विधैकार्थेतरत्वः ।।
   आरोप्यं प्रकृतोपयोगीत्यनेन सर्वेभ्योऽलंकारेभ्यो वैलक्षण्यमस्य । स द्विधा सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्याभ्यां क्रमेण द्वयं यथा --
   अ0चि0 - 4/125 एवं वृत्ति

परवर्ती काल में विद्यानाथ कृत परिभाषा तथा भेद प्रभेद भी आचार्य अजितसेन से प्रभावित है ।[1]

सन्देह:-

संस्कृत वाङ्मय में इसके तीन नामों का उल्लेख प्राप्त होता है । आचार्य रुद्रट तथा भोज ने इसे 'संशय' कहा है । भामह तथा उद्भट ने 'ससंदेह'। आचार्य वामन तथा अजितसेन ने संदेह कहा है ।[2]

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ उपमेय की स्तुति के निमित्त उसका उपमान के साथ भेद या अभेद दिखाते हुए सन्देह युक्त वचन का प्रयोग किया जाए वहाँ ससन्देहालंकार होता है ।[3]

आचार्य दण्डी इसे संशयोपमा के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है ।[4]

आचार्य उद्भट ने भामह कृत परिभाषा को ही उद्धृत कर दिया है ।[5]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ उपमेय तथा उपमान में संशय हो वहाँ ससन्देह अलंकार होता है ।[6] इन्होंने इसके दो भेदों का उल्लेख भी किया है । जो भेद की उक्ति तथा अनुक्ति में होता है ।

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ सज्जनों से अभिमत सादृश्य के कारण विषय और विषयी में कवि को सन्देह प्रतीत हो वहाँ सन्देहालंकार होता

---

1. प्रताप0 पृ0 - 452
2. (क) रु0 काव्यालंकार - 8/59
   (ख) सरस्वतीकण्ठाभरण 4/41-42
   (ग) भा0 काव्या0 - 3/43
   (घ) का0लं0सा0सं0 - 6/2
   (ङ) काव्या0 सू0 - 4/3/11
   (च) अ0चि0 - 4/128
3. भा0 काव्या0 3/43
4. काव्यादर्श - 2/26
5. काव्या0सा0सं0 - 6/2-3
6. का0प्र0 - 10/92 एवं वृत्ति

है । आशय यह है कि जहाँ साम्य के कारण चित्तवृत्ति दोलायित रहती है, किसी एक विषय का निश्चय नहीं हो पाता है वहाँ सन्देहालंकार होता है । इसमें किं, कथमादि पदों के द्वारा दो पदार्थों में सन्देह की स्थापना की जाती है। इन्होंने इसके तीन भेदों का उल्लेख भी किया है[1] -

(1) **शुद्ध सन्देहः-** जिसमें अन्त तक सन्देह बना रहता है उसे शुद्ध सन्देह की कोटि में रखा गया है ।[2]

(2) **निश्चय गर्भः-** इसमें दो पदार्थों के मध्य संशय बना रहता है ।[3]

(3) **निश्चयान्तः-** आरम्भ में जो सन्देह उत्पन्न होता है, यदि अन्त में उसका निराकरण हो जाए तो वहाँ निश्चयान्त सन्देह होता है ।[4]

परवर्ती आचार्य विद्यानाथ, विश्वनाथ, पण्डितराज आदि की परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।

भ्रान्तिमानः-

इस अलंकार का उल्लेख भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन ने नहीं किया इसकी उद्भावना का श्रेय आचार्य रुद्रट को है । रुद्रट के अनुसार जहाँ किसी अर्थ विशेष को देखकर तत्सदृश अन्य वस्तु को बिना सन्देह ही मान ले वहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार होता है । इस अलंकार का स्रोत आचार्य दण्डी की 'मोहोपमा' में निहित है ।[5] इसमें उपमेय में, उपमान के निश्चय को भ्रान्तिमान अलंकार कहा गया है ।[6]

---

1. अ0चि0 4/128-29
2. अ0चि0 - 4/130
3. वही - 4/131
4. वही - 4/132
5. काव्यादर्श - 2/25
6. रु0 काव्या0 - 8/87

आचार्य भोज ने विपर्यय ज्ञान को भ्रान्ति कहा है और उसके दो भेदों का उल्लेख किया है - अतत् में तत् तथा तत् में अतत् के ज्ञान को भ्रान्ति कहा है ।[1]

आचार्य मम्मट कृत परिभाषा रुद्रट पर आधारित है । इन्होंने सदृश वस्तु के दर्शन से अन्य वस्तु के ज्ञान को भ्रान्तिमान् कहा है ।[2]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ आच्छादित आरोप विषय में सादृश्य के कारण आरोप्य का ज्ञान हो वहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार होता है । तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत के देखने से सादृश्य के कारण अप्रस्तुत का भ्रम हो जाये, वहाँ पर भ्रान्तिमान् अलंकार होता है । दो वस्तुओं में उत्कट साम्य के आधार पर वस्तु की स्मृति जागती है एवं इसके पश्चात् भ्रम उत्पन्न होता है । निश्चित मिथ्याज्ञान ही भ्रम है इसमें ज्ञान तो होता है मिथ्या ही, पर मिथ्या होने पर भी ज्ञाता के लिए मिथ्याज्ञान निश्चय कोटि का होता है । इसमें भ्रम स्थिति तो वाच्य होती है, पर सादृश्य की कल्पना व्यंग्य ।[3]

आचार्य शोभाकार मित्र सादृश्येतर सम्बन्ध में भी भ्रान्तिमान अलंकार स्वीकार करते हैं ।[4]

आचार्य जयदेव विश्वनाथ विद्यानाथ अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ कृत परिभाषाएँ अजितसेन से प्रभावित हैं ।[5]

---

1. स0क0भ0, 3/35
2. भ्रान्तिमानन्यसंवित्तुल्यदर्शने । — का0प्र0, 10/46 एवं वृत्ति
3. पिहितात्मनि, चारोपविषये सदृशत्वतः ।
   आरोप्यानुभवो यत्र भ्रान्तिमान् स मतो यथा ।।
   — अ0चि0 4/133
4. अ0र0, पृ0 - 52-53
5. (क) चन्द्रा0 पृ0 - 32
   (ख) सा0द0 - 10/36
   (ग) प्रताप0 - पृ0 - 456
   (घ) कुवलयानंद - 24
   (ड) र0गं0 - पृ0 - 353-55

अपह्नुतिः -

भामह के अनुसार जहाँ वास्तविक वस्तु को छिपाने के लिए अवास्तविक वस्तु का आरोप किया जाए वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है । किञ्चिदन्तर्गतोपमा के माध्यम से इन्होंने यह भी बताया है कि अपह्नुति में उपमा का होना आवश्यक है क्योंकि सादृश्य के कारण ही सत्यभूत वस्तु पर असत्य का आरोप करके सुगमता से छिपाया जा सकता है । भूतार्थ (सत्य वस्तु) का अपह्नव होने के कारण ही इसे अपह्नुति की अभिधा प्रदान की गयी है ।[1]

आचार्य दण्डी ने अपह्नुति को तीन स्थलों पर वर्णित किया है - उपमापह्नुति, तत्त्वापह्नुति एवं नवरूपकापह्नुति तत्त्वापह्नुति में सादृश्य तथा रूपकापह्नुति में आरोप की सत्ता रहती है ।[2]

उद्भट ने भामह के लक्षण को ही उद्धृत कर दिया है ।[3]

मम्मट के अनुसार जहाँ प्रकृत का निषेध कर उस पर अप्रकृत (उपमान) का सत्य रूप में आरोप किया जाए वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है ।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ उपमेय का निषेध कर अप्रकृत - उपमान का आरोप किया जाए वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है । इन्होंने इसके तीन भेदों का उल्लेख किया है[5] - (1) आरोप्यापह्नव, (2) अपह्नवारोप और (3) छलादि उक्ति ।

---

1. अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा ।
   भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा ।। भा0काव्या0 3/21
2. उपमापह्नुतिः पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता ।
   इत्यपह्नुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः ।। का0द0 2/309
   दृष्टव्य काव्यदर्पण - 2/95, 2/304, 2/94, 2/305, 308
3. काव्या0 सा0सं0, 5/3
4. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते साऽत्वपह्नुतिः ।। का0प्र0 10/6
   उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सात्वपह्नुतिः । वृत्ति
5. इदं न स्यादिदं स्यादित्येषा साम्यादपह्नुतिः ।
   आरोप्यापह्नवारोपच्छलाद्युक्तिभिदा त्रिधा ।।
   आरोप्यापह्नवः अपह्नवारोप्यः छलादिशब्दैरसत्यत्ववचनं चेति त्रिधा सा ।
   अ0चि0 4/135 एवं वृत्ति ।

आरोप्यापह्नव में आरोप पूर्वक निषेध होता है । अपह्नवारोप में निषेध पूर्वक अपह्नव होता है । छलादि उक्ति की अपह्नुति में अति सादृश्य के कारण सत्य होने पर भी असत्य कह कर उपमान को सत्य सिद्ध किया जाता है ।

परवर्ती आचार्य विद्यानाथ कृत परिभाषा अजितसेन से अनुकृत है ।[1] जयदेव, दीक्षित, पण्डितराजादि ने भी किञ्चित् शाब्दिक परिवर्तन के साथ अजितसेन कृत परिभाषा को स्वीकार कर लिया है । तात्विक दृष्टि से विचार करने पर इन आचार्यों की परिभाषाओं में किसी प्रकार की नव्यता दृष्टिगोचर नहीं होती ।[2]

उल्लेखः -

इस अलंकार की उद्भावना का श्रेय आचार्य रूय्यक को है इनके अनुसार जहाँ एक वस्तु का निमित्तवश अनेक प्रकार से ग्रहण किया जाए वहाँ उल्लेख अलंकार होता है ।[3]

आचार्य शोभाकर मित्र कृत परिभाषा रूय्यक से किञ्चित् भिन्न है इन्होंने एक वस्तु की अनेकधा कल्पना में उल्लेख अलंकार को स्वीकार किया, साथ ही साथ 'तत्धर्मयोगात्' के माध्यम से यह भी स्पष्ट किया है कि वस्तु का अनेकधा उल्लेख धर्म के सम्बन्ध से ही किया जाए तो उसमें प्रायः विशेष औचित्य की सृष्टि होती है ।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ ग्रहीता के भेद से एक वस्तु का अवशिष्ट रूच्यर्थ के सम्बन्ध से अनेक प्रकार का उल्लेख किया जाए - वहाँ उल्लेख अलंकार होता है । इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने रूच्यर्थ के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की चर्चा नहीं की इन्होंने रुचि का उल्लेख कर के यह स्पष्ट कर दिया कि ग्रहणकर्ता किसी वस्तु की जब अनेक प्रकार से कल्पना करता है तो उसकी यह कल्पना उसके रुचि के अनुकूल ही हुआ करती है । इनके अनुसार

---

1. प्रतापरुद्रीयम् - पृ0 - 457
2. (क) अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुतिः चन्द्रा0 5/24
(ख) चि0मी0 पृ0 - 82
(ग) र0गं0 पृ0 - 366
3. अ0स0 (संजीवनीटीका) पृ0 - 70
4. अलंकार रत्नाकर - पृ0 - 54

इस अलंकार को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - (1) ज्ञातृ भेद से किसी एक विषय वस्तु या पदार्थ का अनेक रूप में वर्णन करना । (2) विषय भेद से किसी एक विषयवस्तु या पदार्थ का अनेक रूप में वर्णन करना ।

इस अलंकार में अपनी-अपनी भावनावश बहुत रूपों का उल्लेख किया जाता है । इन्होंने श्लेष के योग में भी इस अलंकार की सत्ता स्वीकार की है जो इनके पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषाओं में अप्राप्त है ।[1]

आचार्य विद्यानाथ कृत परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[2] परवर्ती जयदेव दीक्षित तथा पण्डित राजादि की परिभाषाओं में भी किसी विशेष प्रकार का अन्तर नहीं है । इनकी परिभाषाएँ अजितसेन तथा रुय्यक से प्रभावित है ।[3]

उत्प्रेक्षा:-

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ सादृश्य की प्रतीति करना अभीष्ट न हो किन्तु उपमा की आंशिक सामग्री विद्यमान हो, साथ ही अतिशय द्वारा भिन्न वस्तु के गुण और क्रिया रूप धर्म का सम्बन्ध भिन्न वस्तु में बताया जाए, उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं ।[4]

आचार्य वामन के अनुसार गुण, क्रियादि रूप वस्तु के स्वभाव को छिपाकर जिसमें जैसा नहीं है उसमें वैसे स्वभाव का ज्ञान करना उत्प्रेक्षा अलंकार है इसमें आरोप या लक्षणा नहीं रहती, न ही भ्रान्तिमान् । यह सादृश्य मूलक होती है।[5]

---

1. एकस्य शेषरुच्यर्थयोगैरुल्लेखं बहु ।
   ग्रहीतृभेदादुल्लेखालंकारः स मतोयथा ।। अ0चि0 - 4/140
   अत्र रुच्यर्थयोगाभ्यामुल्लेखः । श्लेषेण यथा -- । अ0चि0 पृ0-155
2. प्रतापरुद्रीयम् - पृ0 - 459 रत्नापण टीका
3. (क) बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेखिता मतः । चन्द्रा0 5/23
   (ख) चि0मी0 पृ0 - 77
   (ग) रसगंगाधर - पृ0 - 360-61
4. का0लं0 - 2/91
5. काव्या0 सू0, 4/3/9

उद्भट के मत में इवादि शब्द के प्रयोग होने पर भी जहाँ उपमा की अविवक्षा रहे, भिन्न वस्तु के गुण भिन्न वस्तु में भले ही विधाता की सृष्टि में न हो सके किन्तु कवि की सृष्टि में यह असंभव नहीं, अतः उत्प्रेक्षा में लोकातिक्रान्त विषयक वस्तु का प्रतिपादन रहता है । यहाँ सम्भावना का अस्तित्व भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों प्रकार से संभव है । इवादि के प्रयोग में वाच्योत्प्रेक्षा होती है ।[1]

आचार्य रुद्रट के अनुसार जहाँ पहले उपमान तथा उपमेय का अत्यन्त सादृश्य के आधार पर अभेद बताया जाए, पुनः उपमान का सद्भाव सिद्ध बतलाकर उसमें उपमान धर्मों का आरोप किया जाए वहाँ उत्प्रेक्षालंकार होता है । आचार्य रुद्रट ने लोकातिक्रान्त विषयक वस्तु की चर्चा नहीं की और न ही भामह की भाँति अविवक्षित सामान्य का ही उल्लेख किया तथापि रुद्रट की परिभाषा में भी भामह और उद्भट के विचार का समन्वय प्राप्त होता है ।[2]

आचार्य मम्मट कृत परिभाषा भामह तथा उद्भट आदि आचार्यों की अपेक्षा स्पष्ट है । इनके अनुसार जहाँ प्रकृत (उपमेय) की उपमान रूप में संभावना की जाए वहाँ उत्प्रेक्षालंकार होता है ।[3] यहाँ मम्मट ने 'संभावन' शब्द आलंकारिक परम्परा से अपनाया है किन्तु टीकाकारों ने उसे अपने मत से इस प्रकार स्पष्ट किया है[4] -

"उत्कटोपमा नैक कोटिकः संशयः संभावनम्' अर्थात् उस संशय को संभावन कहते हैं जिसमें उपमान की ओर बुद्धि का झुकाव अधिक हो ।"

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा पूर्ववर्ती भामह, उद्भट तथा वामन से भिन्न है इनकी परिभाषा पर किंचित् मम्मट का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनके अनुसार जहाँ अप्रकृत के सम्बन्ध से प्रकृत वस्तु का अप्रकृत वस्तु स्वरूप से आरोप किया जाए वहाँ उत्प्रेक्षालंकार होता है ।[5] इन्होंने वृत्ति में अप्रकृत में विद्यमान

---

1. काव्या0सा0सं0 - 3/3-4
2. रू0 काव्या0 8/32
3. संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् । का0प्र0, 10/92
4. अ0सं0, डॉ0 रेवा प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी टीका, पृ0 - 225
5. यत्राप्रकृतसंबन्धात्प्रकृतस्योपतर्कणम् ।
   अन्यत्वेन विधीयेत सोत्प्रेक्षा कविनोदिता ।।
   अ0चि0, 4/141

गुण, क्रियादि धर्मों का भी उल्लेख किया है । आशय यह है कि अप्रकृत के गुण क्रियादि धर्मों का जहाँ प्रकृत रूप में संभावना की जाए वहाँ उत्प्रेक्षालंकार होता है । कारिका में आए हुए 'उपतर्कणम्' का अर्थ 'उपसंभावनम्' करना समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि अप्रकृत के धर्म की प्रकृत में संभावना ही वस्तुतः उत्प्रेक्षा है । इन्होंने असत्य को सत्य रूप से उद्भावित करने में भी उत्प्रेक्षालंकार को स्वीकार किया । वाच्य उत्प्रेक्षा तथा गम्योत्प्रेक्षा - दो भेद भी किया साथ ही साथ यह भी बताया है कि जहाँ - 'विद्माः मन्ये नूनं प्रायः' इत्यादि आरोपण वाचक शब्दों का प्रयोग हो वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है और इन शब्दों के अभाव में गम्योत्प्रेक्षा होती है ।[1] उत्प्रेक्षा के उपर्युक्त भेदों का उल्लेख आचार्य मम्मट ने भी किया है किन्तु 'असत्ये सत्यरूपा उत्प्रेक्षा' इनकी नवीन कल्पना है ।[2] जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती आचार्यों ने नहीं किया । इन्होंने जाति उत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण व विवेचन भी प्रस्तुत किया ।[3]

आचार्य विद्यानाथ कृत परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[4] आचार्य रूय्यक तथा विद्यानाथ ने इसके 96 भेदों की चर्चा की है ।[5] किन्तु अजितसेन को ग्रन्थ - गौरव के भय से भेद विस्तार अभीष्ट नहीं है ।[6]

अतिशयोक्तिः -

आचार्य भामह के अनुसार किसी निमित से कथित लोकोत्तर उक्ति ही अतिशयोक्ति है ।[7] आचार्य वामन ने किसी अन्य आचार्य के मत को उद्धृत करके यह बताया है कि उत्प्रेक्षा ही अतिशयोक्ति है । किन्तु आचार्य वामन संभाव्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना में अतिशयोक्ति को स्वीकार करते हैं ।[8]

---

1. अ०चि०, पृ० - 155
2. अ०चि०, 4/141 की वृत्ति ।
3. इयं जाति फलोत्प्रेक्षा नूनं चक्रिभुजद्वयम् । अ०चि०, पृ० - 156
4. प्रताप० पृ० - 46।
5. अ०स०, सू०-22, द्र० वृत्ति ।
6. उत्प्रेक्षा बहुविद्या (विधा) संक्षिप्ता ग्रन्थविस्तरभीरुत्वात् । अतैव सर्वत्र संक्षेपः । अ०चि०, 4/142 की वृत्ति
7. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
   मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतयो यथा ।। भा०, काव्या०, 2/81
8. संभाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्तिः ।। काव्या० सू०, 4/3/10

आचार्य उद्भट कृत लक्षण भामह के समान है ।[1] आचार्य रुद्रट ने अतिशयोक्ति नाम से किसी एक स्वतंत्र अलंकार के नाम का उल्लेख नहीं किया अपितु अतिशय वर्ग के 12 अलंकारों का उल्लेख किया है ।[2]

आचार्य मम्मट कृत परिभाषा पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा किंचित् नवीन है । इनके अनुसार जहाँ उपमान द्वारा उपमेय का निगरण कर लिया जाए या प्रस्तुत पदार्थ का अन्य रूप में वर्णन किया जाए अथवा यदि शब्द के अर्थ की उक्ति के द्वारा असंभावितार्थ की कल्पना की जाए अथवा कार्य व कारण के पौर्वापर्य का विपर्य हो तो वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है ।[3]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ कवि की प्रौढ़ वाणी से उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण कर लिया जाए वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है। कारिका में प्रयुक्त 'विषयस्यतिरोधानात्' पद का आशय यह है कि जहाँ विषय अर्थात् उपमेय तिरोहित हो जाए, अर्थात् उपमान के द्वारा उसका निगरण कर लिया जाए वहाँ अतिशयोक्ति नामक अलंकार होता है इन्होंने इसके चार भेदों का उल्लेख किया है -

(1) भेद में अभेद रूप अतिशयोक्ति
(2) अभेद में भेद रूप अतिशयोक्ति
(3) असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति तथा
(4) सम्बन्ध में असम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा मम्मट से भिन्न है इन्होंने कारण-कार्य के पौर्वापर्य विपर्य में तथा यद्यर्थ के कथन में होने वाली अतिशयोक्ति का कथन नहीं किया ।[4]

---

1. काव्या0 सा0सं0, 2/11।
2. रु0 काव्या0, 9/12
3. का0प्र0, 10/100, 101
4. कविप्रौढगिरा यत्र विषयी सुविरच्यते ।
   विषयस्य तिरोधानात् सा स्यादतिशयोक्तिता।।
   भेदेऽभेदस्त्वभेदे तु भेदः सम्बन्ध के पुनः ।
   असंबन्धस्त्वसंबन्धे संबन्धस्सा चतुर्विधा ।।

   अ0चि0, 4/155-52

आचार्य रूय्यक तथा विद्यानाथ कृत परिभाषा तथा भेद अजितसेन के समान है ।[1] किन्तु दोनों ही आचार्यों ने मम्मट द्वारा निरूपित कार्यकारण के पौर्वापर्य विपर्य रूप मम्मट - स्वीकृत भेद को भी स्वीकार किया है जिसके विषय में अजितसेन मौन हैं ।[2]

सहोक्तिः -

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ दो वस्तुओं से सम्बद्ध दो क्रियाओं का एक ही पद से कथन हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है । इसमें सहार्थ वाचक शब्दों का प्रयोग होना आवश्यक है ।[3]

आचार्य दण्डी गुण तथा कर्म (क्रिया) के सहभाव कथन में सहोक्ति अलंकार को स्वीकार किया है ।[4] उद्भट कृत परिभाषा भामह अनुकृत है ।[5] वामन कृत परिभाषा पर भी भामह का स्पष्ट प्रभाव है ।[6]

अग्निपुराण के अनुसार जहाँ तुल्यधर्मियों के सहभाव का कथन हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है । इन्होंने दण्डी द्वारा निरूपित 'गुण कर्मणाम्' के स्थान पर 'तुल्यधर्मिणाम्' पद का उल्लेख किया है ।[7]

आचार्य रूद्रट ने वास्तव तथा औपम्य दोनों ही वर्गों में इसका निरूपण किया है । वास्तवगत सहोक्ति में दो पदार्थों के एक साथ कथन में सहोक्ति अलंकार को स्वीकार किया है ।[8] और औपम्य वर्ग में केवल सादृश्य पक्ष पर विचार किया गया है ।

---

1. (क) अ0स0, सूत्र - 23 एवं वृत्ति
   (ख) प्रताप0, पृ0 - 477
2. (क) कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसश्च । अ0स0, सू0 23, की वृत्ति
   (ख) कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिर्यथा । प्रताप0, पृ0 48।
3. काव्यालंकार - 3/39
4. सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम् । काव्यादर्श - 2/351
5. काव्या0 सा0 सं0, 5/15
6. वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः । काव्य0सू0, 4/3/28
7. सहोक्तिः सहभावेनकथनं तुल्यधर्मिणाम् ।। अ0पु0, 8/23 पृ0-345
8. रु॰ काव्या0, 7/13

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ सह (साथ) अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले पदों के द्वारा एक साथ दो पदार्थों का कथन हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है ।[1]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ अतिशयोक्ति के बल से सह अर्थ वाले शब्दों के माध्यम से उपमान उपमेय भाव की कल्पना की जाए वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है । इसमें एक का प्रधान के साथ तथा अन्य का सहार्थक शब्द के साथ अन्वय होता है । सहोक्ति अलंकार के मूलतः दो भेद हैं - (1) कार्यकारण के पौर्वापर्य विपर्ययरूपा अतिशयोक्ति मूलक (2) अभेदाध्यवसाय अतिशयोक्ति मूलक ।[2]

अभेदाध्यवसाय मूलक अतिशयोक्ति को श्लेषमूलक तथा अश्लेषमूलक दो भागों में विभाजित किया जा सकता है ।

आचार्य विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ भी अजितसेन द्वारा निरूपित अभेदाध्यवसाय मूलक अतिशयोक्ति को स्वीकार करते हैं ।[3]

विनोक्तिः -

आचार्य भामह, दण्डी, वामन, उद्भट तथा रुद्रट ने इसका उल्लेख नहीं किया इसका सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य मम्मट ने किया तत्पश्चात् अजितसेन, रूय्यक, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है ।[4]

---

1. सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचिकम् । का०प्र०, 10/112

2. यत्रान्वयः सहार्थेन प्रोच्यतेऽतिशयोक्तितः ।
   औपम्यकल्पनायोग्या सहोक्तिरिति कथ्यते ।।
   कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूला अभेदरूपातिशयोक्तिश्लेषगर्भा चारूत्वातिशयहेतुरिति सा द्विधा । अ०चि०, 4/160 एवं वृत्ति

3. (क) प्रताप०, पृ० - 483, (ख) सा०द०, 10/72, (ग) र०गं०, पृ०-595

4. (क) विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।। का०प्र०, 10/113
   (ख) अ०चि०, 4/163
   (ग) विना कञ्चिदन्यस्य सदसत्वाभावो विनोक्तिः । अ०स०, पृ०-105
   (घ) प्रताप०, पृ० - 484
   (ङ) सा०द०, 10/55
   (च) विनार्थ संबन्ध एवं विनोक्तिः । र०गं०, पृ० - 490

उक्त आचार्यों के मत में विनोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ 'विना' पद के द्वारा किसी की चारूता या अचारूता का प्रतिपादन किया जाता है । 'बिना' शब्द के वाचक समस्त शब्दों के योग में यह अलंकार संभव है ।[1]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ किसी वस्तु के असन्निधान से कोई वस्तु सुन्दर या असुन्दर प्रतीत हो वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है । इन्होंने शोभन विनोक्ति, तथा अशोभन विनोक्ति रूप से इसके दो भेद किए हैं ।[2] विनोक्ति के सम्बन्ध में प्रायः सभी आचार्यों की परिभाषाएँ समान हैं ।

समासोक्तिः -

समासोक्ति का अर्थ है संक्षेप में कथन अर्थात् जहाँ संक्षेप में दो अर्थों का कथन किया जाए वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है । आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, वामन तथा भोज संक्षिप्त कथन में समासोक्ति को स्वीकार करते हैं ।[3]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा अप्रकृतार्थ का कथन हो वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है ।[4] आचार्य रूय्यक के अनुसार जहाँ विशेषणों का साम्य होने पर अप्रस्तुतार्थ की प्रतीति गम्य हो वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है ।[5] आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ विशेषणों का साम्य होने के कारण प्रस्तुत अर्थ का वर्णन किया जाए और अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है ।[6] इन्होंने श्लिष्ट विशेषणों के साम्य में तथा साधारण विशेषण के

---

1. इयं च न केवलं विनाशब्दस्य सत्व एव भवत्यपि तु विनाशब्दार्थ वाचकमन्त्रस्य। तेन नञ् निर् वि अन्तरेण ऋते रहित विकलेत्यादि प्रयोगे इयमेवः। र0गं0, पृ0 -577, उद्धृत - चन्द्रालोक सुधा, हिन्दी टीका ।
2. असन्निधानतो यत्र कस्यचिद् वस्तुनोऽपरम् ।
   वस्तु रम्यमरम्यं वा सा विनोक्तिरिति द्विधा ।। अ0चि0, 4/163
3. (क) काव्या0, 2/79, (ख) का0द0, 2/250, (ग) काव्या0 सा0सं0, 2/10, (घ) काव्या0 सू0, 4,4,3, (ङ) स0क0भ0, 4/46
4. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः । का0प्र0, 10/97
5. विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वेसमासोक्तिः । अ0स0, सू0 3।
6. प्रस्तुतं वर्ण्यते यत्र विशेषणसुसाम्यतः ।
   अप्रस्तुतं प्रतीयेत सा समासोक्तिरिष्यते ।
   श्लिष्टविशेषणसाम्या साधारण विशेषणसाम्या चेति द्विधा ।
   अ0चि0, 4/ 66 एवं वृत्ति

साम्य में होने वाली दो प्रकार की समासोक्ति का उल्लेख किया है ।

इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने साधारण विशेषण साम्या समासोक्ति का उल्लेख नहीं किया तथापि विशेषण साम्य में तथा श्लिष्ट विशेषण में समासोक्ति की चर्चा की गयी है । साधारण शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि समासोक्ति में इस प्रकार का विशेषण रखना चाहिए जो प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों प्रकार की प्रतीति कराने में समर्थ हो । संभवतः इसीलिए आचार्य अजितसेन ने विशेषण साम्य के स्थान पर साधारण विशेषण साम्य पद का उल्लेख किया है ।

वक्रोक्तिः -

संस्कृत साहित्य में वक्रोक्ति पद का उल्लेख दो अर्थों में होता है। एक अर्थ तो केवल अलंकार मात्र का सूचक है और दूसरा अलंकार विशेष का। आचार्य भामह के अनुसार अतिशयोक्ति ही समग्र वक्रोक्ति (अलंकार प्रपञ्च) है इससे अर्थ में रमणीयता आती है । वक्रोक्ति अलंकार के अभाव में इन्हें अलंकारत्व अभीष्ट ही नहीं है, संभवतः इसीलिए इन्होंने सूक्ष्म, हेतु व लेश को अलंकार नहीं माना है ।[1]

आचार्य दण्डी के अनुसार श्लेष प्रायः सभी वक्रोक्तियों का शोभाधायक है । इनके अनुसार सम्पूर्ण वाङ्मय स्वाभावोक्ति एवं वक्रोक्ति के रूप में विभक्त है ।[2] आचार्य वामन ने इसे अलंकार के रूप में स्वीकार करते हुए सादृश्य लक्षणा को ही वक्रोक्ति बताया है । किन्तु इसे गौणी लक्षणा के रूप में स्वीकार करना ही उचित प्रतीत होता है ।[3]

आचार्य रुद्रट के अनुसार जब वक्ता द्वारा विशेष अभिप्राय से कथित बात का उत्तरदाता पद भंगी के द्वारा जान बूझकर अन्य उत्तर दे तो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है । जहाँ पदभंगी के द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति हो वहाँ श्लेष वक्रोक्ति तथा स्वर विशेष के द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति होने पर काकु वक्रोक्ति

---

1. भा0, काव्यालंकार, 2/84, 85-86
2. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
   भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेतिवाङमयम् ।। का0द0, 2/363
3. सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः । काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, 4/3/8

होती है ।[1] आचार्य मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव व अप्पय दीक्षित कृत वक्रोक्ति की परिभाषा रुद्रट से प्रभावित है ।[2] आचार्य अजितसेन केवल काकु वक्रोक्ति को ही स्वीकार करते हैं इन्होंने श्लेष वक्रोक्ति की चर्चा नहीं की । इससे विदित होता है कि श्लेष वक्रोक्ति को इन्होंने श्लेष अलंकार में ही अन्तर्भावित कर लिया है । अन्यथा मम्मट आदि की भाँति इन्हें श्लेष तथा काकु दोनों ही स्थलों पर वक्रोक्ति स्वीकार करना चाहिए था किन्तु इन्होंने केवल यह बताया कि जहाँ अन्य के द्वारा कथित वाक्य का काकु के द्वारा अन्य प्रकार से योजना की जाए वहाँ वक्रोक्ति नामक अलंकार होता है ।[3]

स्वाभावोक्तिः-

संस्कृत साहित्य में जाति तथा स्वाभावोक्ति दो नामों से इस अलंकार का निरूपण किया गया है ।

आचार्य दण्डी ने इसे जाति तथा स्वभावोक्ति दोनों ही नामों से अभिहित किया है तथा भोज ने केवल जाति का ही उल्लेख किया है ।[4] डॉ० वी० राघवन ने जाति के दो अर्थों की कल्पना की है - "जाति शब्द को जन् धातु से व्युत्पन्न मानकर उन्होंने इसका अर्थ किसी पदार्थ के वास्तविक रूप का वर्णन किया है। जाति से इनका अभिप्राय किसी पदार्थ के सहजात रूप वर्णन से है । इन्होंने दूसरे अर्थ में वर्ग के आधार पर किसी वस्तु की जातिगत विशेषताओं के वर्णन को जाति कहा है । कालान्तर में दोनों ही अर्थ अलंकार रूप में गृहीत हुए ।"[5]

---

1. वक्त्रातदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः ।
   वचनं यत्पदभंगैर्ज्ञेया सा श्लेष वक्रोक्तिः ।।
   विस्पष्टं कियमाणादक्लिष्टा स्वर विशेषोभवति ।
   अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः ।। रु० काव्या०, 2/14, 16

2. (क) का०प्र०, 9/78
   (ख) अ०स०, सू० 78
   (ग) सा०द०, 10/9
   (घ) चन्द्रा०, 5/111
   (ङ) कुव०, 159

3. अन्यथोदितवाक्यस्य काक्वा वाच्यावलम्बनात् ।
   अन्यथा योजनं यत्सा वक्रोक्तिरिति कथ्यते ।। अ०चि०, 4/171

4. (क) काव्यादर्श - 2/8
   (ख) स०क०भ० - 3/4-8

5. अलंकारों का ऐतिहासिक विकास ।

आचार्य दण्डी के अनुसार जहाँ नाना अवस्थाओं में स्थित पदार्थों के यथावत स्वरूप का प्रतिपादन किया जाए वहाँ स्वभावोक्ति नामक अलंकार होता है ।

आचार्य उद्भट के अनुसार पशुओं तथा बच्चों की चेष्टाओं के यथावत् वर्णन में स्वभावोक्ति अलंकार होता है । इनके अनुसार क्रिया में प्रवृत्त मृग एवं बालकों की स्वाभाविक चेष्टाओं का निबन्धन ही स्वभावोक्ति अलंकार है ।[1]

आचार्य मम्मट कृत परिभाषा उद्भट से प्रभावित है ।[2]

आचार्य अजितसेन के अनुसार स्वाभाविक वर्णन से परिलसित पदावली ही स्वभावोक्ति अलंकार है । इसी स्वभावोक्ति को जाति नाम से भी अभिहित किया गया है । जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य से इसके अनेक भेद संभव है । किन्तु इन्होंने इसके प्रत्येक भेदों को उदाहृत नहीं किया है ।[3]

इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने जाति द्रव्य गुण तथा क्रियादि का उल्लेख नहीं किया था,[4] किन्तु अजितसेन ने इसका स्थल निर्देश करके इसके वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है । क्योंकि आचार्य पतञ्जलि ने 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' (महाभाष्य प्रथम आह्निक) का उल्लेख करके उक्त जात्यादि चार स्थलों पर शब्दों की प्रवृत्ति को स्वीकार किया है । इससे विदित होता है कि यह स्वाभाविक वर्णन जाति, गुण, क्रिया सभी का हो सकता है संभवतः इसीलिए महाकवि बाणभट्ट ने अग्राम्यत्व जाति की प्रशंसा की है ।[5]

---

1. काव्या०सा०सं०, 3/5
2. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूप वर्णनम् । का०प्र०, 10/111
3. स्वभावामात्रार्थपदप्रक्लृपितः सा या स्वभावोक्तिरियं हि जातिः ।
जातिक्रियाद्रव्यगुणप्रभेदाः नीचांगनात्रस्तसुताधिरम्या ।। अ०चि० 4/172
4. (क) रु०, काव्या०, 6/10, 30, 31
(ख) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ० - 70
(ग) अ०स०, सूत्र 79, पृ० - 664
5. नवोऽर्थो जातिग्राम्या श्लेषोक्लिष्टस्फुटोरसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् । हर्षचरित अ०-8

परवर्ती आचार्यों की परिभाषाएँ प्रायः मम्मट के समान हैं ।[1]

व्याजोक्तिः -

भामह दण्डी तथा उद्‌भट ने इसका उल्लेख नहीं किया । इसका उल्लेख सर्वप्रथम वामन ने किया । इनके अनुसार छल की सदृशता जहाँ छल से दिखाई जाए वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है ।[2] कुछ आचार्य इसे मायोक्ति भी कहते है परन्तु किन आचार्यों के प्रति मायोक्ति का उल्लेख वामन ने किया है यह नही कहा जा सकता । आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ प्रकट हुई वस्तु का छल गोपन कर दिया जाए वहाँ व्याजोक्ति नामक अलंकार होता है ।[3] व्याजोक्ति अलंकार में साधर्म्य का कोई प्रयोग नहीं होता । गोपनीय तथा स्थापनीय पदार्थों में न कोई उपमेय होता है न उपमाना । परवर्ती आचार्यों में रूय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने मम्मट के अनुसार लक्षण किया है ।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार प्रकट हो जाने वाली कोई बात जहाँ सादृश्य होने से किसी कारणवश छिपा दी जाए वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है। इनके लक्षण में निम्नलिखित तत्त्वों का आधान हुआ है ।[5]

(1) इसमें दो सदृशवस्तु का होना आवश्यक है ।

(2) प्रकट हुई वस्तु को सादृश्य के कारण छिपा देना ही इस अलंकार का जीवन है ।

जयदेव, अप्पय दीक्षित आदि आचार्यों ने प्रकट हुई वस्तु को ~~को~~ छल से छिपा देने में व्याजोक्ति अलंकार को स्वीकार किया है ।[6] इसमें ब्याज के कारण वस्तु गोपन की चर्चा प्रायः सभी आचार्यों ने की है ।

---

1. (क) चन्द्रा0 5/112 (घ) कु0, 160
   (ख) प्रताप0, पृ0 - 494
   (ग) सा0द0, 10/92
2. व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः ।
   व्याजस्य छद्‌मना सत्येन सारूप्यं व्याजोक्तिः । 'या मयोक्तिरित्याहुः।
   काव्या0सू0, 4,3, 25
3. का0प्र0, 10/118
4. (क) अ0सं0, सू0 - 77 (ख) एकावली, 8/67
   (ग) प्रताप0पृ0 495 (घ) सा0द0, 10/91
5. यत्र प्रकाशितं वस्त साम्यगर्भत्वतः पनः ।

मीलनः -

आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट और वामन ने इसका उल्लेख नहीं किया है रुद्रट ने सर्वप्रथम इसकी उद्भावना की जिसका अनुसरण मम्मट, अजितसेन, रुय्यक, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि ने किया है । आचार्य रुद्रट के अनुसार जहाँ हर्ष, कोप, भयादि चिन्हों को तत्तुल्य हर्षादि के द्वारा तिरस्कृत कर दिया जाए तो वहाँ मीलित अलंकार होता है ।[1] इस अलंकार का विकास आचार्य दण्डी द्वारा निरूपित अतिशयोक्ति के निम्नलिखित उदाहरण के आधार पर हुआ है -

मल्लिकामालभारिव्यः सर्वांगीणार्द्रचन्दनाः ।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ।।

(का0द0 2/215)

काव्य प्रकाश कारादि नवीन आचार्यों ने ऐसे स्थल में एक स्वतंत्र मीलित नामक अलंकार स्वीकार किया है ।

आचार्य रुद्रट का मीलित अलंकार परवर्ती आचार्यों की परिभाषाओं के समान नहीं है ।

परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत मीलित अलंकार रुद्रट के पिहित अलंकार के निकट है । जहाँ यह बताया गया है कि प्रबल गुण वाली वस्तु से समान न्यून गुण वाली वस्तु छिप जाती है । वहाँ पिहित अलंकार होता है ।[2] भोज का मीलित निरूपण रुद्रट से प्रभावित है ।[3] आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ कोई स्वाभाविक या आगन्तुक वस्तु अपने चिन्हों के द्वारा प्रबल पदार्थ को तिरोहित कर ले वहाँ मीलित अलंकार होता है ।[4] आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा मम्मट के समान है इन्होंने मम्मट की ही भाँति सहज और आगन्तुक रूप से दो भेदों का उल्लेख भी किया है इनके अनुसार - सहज वस्तु से आगन्तुक वस्तु का तिरोधान -होने

---

1. तन्मीलितमित यस्मिन्समानचिह्नेन हर्ष कोपादि ।
   अपरेणतिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि ।। रु0 काव्या0, 7/106
2. रु0काव्या0, 9/50
3. स0क0भ0, 3/41
4. का0प्र0, 10/130

पर प्रथम प्रकार का मीलित होता है और आगन्तुक वस्तु से सहज का मीलन होने पर द्वितीय प्रकार का मीलित होता है ।[1]

आचार्य रूय्यक एक वस्तु से दूसरी वस्तु के निगूहन में मीलित अलंकार को स्वीकार किया है ।[2]

आचार्य जयदेव सादृश्य के कारण भेद के न लक्षित होने पर मीलित अलंकार स्वीकार किया है ।[3]

विद्याधर तथा विद्यानाथ की परिभाषा अजितसेन के समान है ।[4]

सामान्यः -

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ गुणगत साम्य प्रदर्शित करने की इच्छा से प्रस्तुत पदार्थ का अप्रस्तुत पदार्थ के साथ ऐकात्म सम्बन्ध प्रतिपादित किया जाए अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों एक रूप होकर समान रूप से प्रतीत हों वहाँ सामान्य नामक अलंकार होता है ।[5]

परवर्ती आचार्य रूय्यक जयदेव विद्याधर विद्यानाथ विश्वनाथ अप्पय दीक्षित आदि की परिभाषाएँ मम्मट के समान हैं ।[6] आचार्य अजितसेन की परिभाषा संक्षिप्त होते हुए भी मम्मट द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को निरूपित करने में समर्थ है क्योंकि इन्होंने 'वस्त्वन्तरैकरूपत्वं सामान्यालंकृति' का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ दो पदार्थों में एक रूपता का प्रतिपादन किया जाए वहाँ सामान्य अलंकार होता है । इसमें अव्यक्त गुण वाले प्रस्तुत और अप्रस्तुत में गुणसादृश्य के कारण एकरूपता का वर्णन किया जाता है ।[7]

---

1. अ0चि0, 4/177
2. वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहनं मीलितम् ।। अ0स0, सू0 71
3. चन्द्रा0 5/33
4. (क) एकावली 8/63
   (ख) प्रताप0, पृ0 - 496
5. प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
   ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमितिस्मृतम् ।। का0प्र0, 10/134
6. (क) प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम् । अ0स0सू0 72
   (ख) चन्द्रा0, 5/34, (ग) एका0, 8/64, (घ) प्रताप0, पृ0 - 498, (ङ) सा0द0, 10/89, (च) कुव0, 147
7. वस्त्वन्तरैकरूपत्वं सामान्यालङ्कृतिर्यथा । अ0चि0, 4/180

तद्गुणः -

आचार्य रूद्रट के अनुसार जहाँ नाना गुण वाले पदार्थों में भेद लक्षित न हो वहाँ तद्गुण अलंकार होता है ।[1] रूद्रट के इस तद्गुण को मम्मट के सामान्य से भिन्न नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त रूद्रट ने एक अन्य तद्गुण का भी उल्लेख किया है जहाँ यह बताया है कि असमान गुण वाली वस्तु जब अधिक गुणवाली वस्तु के सानिध्य में रहकर उसके गुण को धारण कर ले तो वहाँ तद्गुण अलंकार होता है ।[2]

आचार्य मम्मट ने रूद्रट कृत परिभाषा को किंचित् अन्तर से स्वीकार किया । इनके अनुसार जहाँ कोई वस्तु अत्युज्ज्वल गुण वाली वस्तु के समीप रहकर अपने गुण को त्याग कर उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के गुण को ग्रहण कर ले, तो वहाँ तद्गुण अलंकार होता है ।[3]

आचार्य अजितसेन के अनुसार अतिशय साम्य होने से जहाँ कोई वस्तु उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के गुण को ग्रहण कर ले वहाँ तद्गुण अलंकार होता है ।[4]

परवर्ती आचार्यों की परिभाषाएँ अजित के समान हैं ।[5]

---

1. रू0 काव्या0, 9/22
2. रू0 काव्या0, 6/24
3. का0प्र0, 10/137
4. विहायस्वगुणं न्यूनं संनिधिस्थितवस्तुनः ।
   यत्रोत्कृष्टगुणादानं तद्गुणालंकृतिर्यथा । अ0चि0, 4/182
5. (क) एकावली, 8/65
   (ख) प्रताप0, पृ0 - 498
   (ग) सा0द0, 10/90
   (घ) कुव0, 141
   (ङ) र0गं0, पृ0 - 692

अतद्गुणः -

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ अत्यन्त उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु के सानिध्य में रहने पर भी न्यूनगुण वाली वस्तु उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के गुण को ग्रहण न करे वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है ।[1]

आचार्य अजितसेन के अनुसार गुण ग्रहण हेतु के विद्यमान रहने पर भी जहाँ कोई वस्तु या पदार्थ उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु या पदार्थ के गुण को ग्रहण न करे वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है ।[2] आचार्य अजितसेन अतद्गुण में विरोध के सहभाव को भी स्वीकार करते हैं ।[3]

आचार्य रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित आदि की परिभाषाएँ प्रायः समान हैं ।[4]

(2) विरोधमूलक अलंकारः -

विरोधः -

इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भामह ने किया है । भामह के अनुसार गुण अथवा क्रिया के के विरुद्ध अन्य क्रिया के वर्णन को विरोध अलंकार कहते हैं ।[5]

---

1. तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतगुणः । — का०प्र०, 10/138
2. यत्र सन्निधिरूपे तुहेतौ सत्यपि वस्तुनः ।
   नेतरस्य गुणादानं सोऽलंकारो ह्यतद्गुणः ।। — अ०चि०, 4/184
3. विरोधस्यातद्गुणेन किञ्चिद्प्रारब्धत्वाद्विरोध उच्चयते । — वही, वृत्ति
4. (क) सतिहेतौ तद्रूपाननुहारोऽतद्गुणः । — अ०स०, वि०, पृ०-214
   (ख) एकावली, 8/65
   (ग) प्रताप०, पृ० - 172
   (घ) सा०द०, 10/90
   (ङ) कुव०, 144
5. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा ।
   या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः ।। — भा०-काव्या०, 3/25

आचार्य उद्‌भट की परिभाषा भामह अनुकृत है ।[1] दण्डी के अनुसार जहाँ विशेष दर्शन के लिए विरूद्ध पदार्थों के संसर्ग का दर्शन हो वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है ।[2] रूद्रट की परिभाषा आचार्य दण्डी से ही प्रभावित है ।[3] आचार्य वामन ने विरूद्धाभास को विरोध अलंकार के रूप में स्वीकार किया है । इससे विदित होता है कि इस अलंकार में वास्तविक विरोध न होकर केवल विरोध का आभास मात्र रहता है ।[4]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ दो पदार्थों में विरोध होते हुए भी उसमें वास्तविक विरोध न हो, विरोध का आभास मात्र हो वहाँ विरोध नामक अलंकार होता है । वास्तविक विरोध के अभाव में ही विरोधाभास अलंकार होता है । यह विरोध जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य के साथ होता है ।[5] इसके निम्नलिखित भेद संभव हैं -

(1) जाति का जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य से विरोध
(2) गुण का गुण क्रिया एवं द्रव्य के साथ
(3) क्रिया का क्रिया एवं द्रव्य के साथ
(4) द्रव्य का द्रव्य के साथ

आचार्य रूय्यक का कथन है यदि विरोध का समाधान न हो सके तो वहाँ 'प्ररूढ़' दोष होता है । दोष के समाधान होने पर ही विरोधालंकार संभव है ।[6]

---

1. काव्या0 सा0सं0, 5/6
2. काव्यादर्श, 2/333
3. रूद्रट - काव्या0, 9/30
4. काव्या0 सू0, 4/3/12
5. का0प्र0, 10/110
6. अ0स0, पृ0 - 154

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा सरल तथा स्पष्ट है । विरोध के सम्बन्ध में इनका कथन है कि आरम्भ में जहाँ विरोध का आभास प्रतीत हो और तत्पश्चात् उसका परिहार संभव हो सके वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है । इन्होंने भी मम्मट की भाँति दस भेदों का उल्लेख किया है ।[1]

परवर्ती आचार्यों की परिभाषाएँ प्रायः अजितसेन के समान हैं ।[2]

विशेषकः -

आचार्य रुद्रट के अनुसार जहाँ बिना आधार के आधेय की स्थिति का प्रतिपादन किया जाए अथवा एक ही वस्तु की एक साथ, एक ही रूप में अनेक स्थानों में स्थिति बताई जाए या एक कार्य करते हुए उसी प्रयत्न से अशक्य कार्य की सिद्धि हो जाए तो वहाँ विशेषक अलंकार होता है ।[3]

परवर्तीकाल में आचार्य मम्मट, अजितसेन, रुय्यक, शोभाकरमित्र, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने रुद्रट द्वारा निरूपित उक्त त्रिविध भेदों को सादर स्वीकार किया है । शाब्दिक अन्तर के साथ उक्त लक्षण को स्वीकार कर लिया ।[4]

अधिकः -

इस अलंकार की उद्भावना का श्रेय आचार्य रुद्रट को है । इनके अनुसार जहाँ एक ही कारण से परस्पर स्वभाव वाले दो पदार्थों के उत्पन्न होने में अथवा एक ही कारण से परस्पर विरुद्ध परिणाम वाली क्रियाओं के उत्पन्न

---

1. अ0चि0 4/186-187
2. (क) आभासत्वेविरोधस्य विरोधालंकृतिर्मता । प्रताप0, पृ0-500
   (ख) चन्द्रालोक - 5/74
   (ग) कुवलयानन्द - 76
   (घ) र0गं0, पृ0 - 571
3. रु0 काव्या0, 9/5, 7, 9
4. (क) का0प्र0, 10/135-136
   (ख) अ0चि0, पृ0 - 176, चतुर्थ परि0 ।

होने पर अधिक अलंकार होता है ।[1] इसके अतिरिक्त इन्होंने एक अन्य 'अधिक' अलंकार को स्वीकार किया है । रुद्रट ने विशाल आधार में भी, किसी कारण से, छोटी वस्तु के समाविष्ट होने का उल्लेख किया है । यहाँ बड़े आधार से भी छोटे आधेय का अधिक महत्त्व प्रदर्शित किया गया है तथा छोटे आधेय की महत्ता प्रदर्शित करने में कतिपय कारणों का भी निर्देश है । परवर्ती आचार्यों ने आधाराधेय की न्यूनाधिकता के वर्णन में हेतु का निर्देश नहीं किया है ।

परवर्ती आचार्यों ने भी रुद्रट के द्वितीय अधिक के आधार पर अधिक अलंकार का निरूपण किया है ।[2]

आचार्य मम्मट आधार एवं आधेय में से एक दूसरे के छोटे होने पर भी उसमें क्रमशः बड़ा सिद्ध करने में अधिक अलंकार को स्वीकार किया है ।[3]

रुय्यक एवं पण्डितराज ने भी इस मत को स्वीकार किया है ।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार यदि आधार और आधेय की विचित्रता के कारण आधार तथा आधेय में अनुरूपता न हो तो वहाँ अधिक अलंकार होता है। आधार के अल्प तथा बहुत्व के कारण इसके दो भेद हो जाते हैं ।[5] इस अलंकार में जिस प्रकार आधेय की अधिकता का वर्णन किया जाता है उसी प्रकार आधार का भी आधिक्य वर्णित होता है । वर्ण्य की महनीयता पर सर्वदा बल दिया जाता है और कभी-कभी उसे आधार रूप में भी वर्णित किया जाता है । वैसे वह प्रायः आश्रित के रूप में ही रहता है । एक के आधिक्य का वर्णन दूसरे की अधिकता की भी अभिव्यक्ति करता है ।

आचार्य विद्यानाथ की परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[6]

---

1. रु0, काव्या0, 9/26
   वही, 9/28
2. (क) अधिकं बोध्यमाधारादाधेयाधिकवर्णनम् ।। चन्द्रा0, 5/83
   (ख) अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम् ।। कुव0, 95
3. का0प्र0, 10/128
4. (क) अ0स0, पृ0 - 169
   (ख) र0गं0, पृ0 - 610
5. अ0चि0, 4/201 एवं वृत्ति ।
6. प्रताप0, पृ0 - 508

विभावनाः -

यह प्राचीनतम अलंकार है । भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने इसका निरूपण किया है । इसमें कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाता है । संस्कृत काव्यशास्त्र में कारण के लिए 'क्रिया' तथा 'हेतु' का और कार्य के लिए 'फल' पद का भी प्रयोग किया गया है ।

आचार्य भामह, वामन, मम्मट क्रिया के प्रतिषेध (अभाव) में फल (कार्य) व्यक्ति को विभावना के रूप में स्वीकार किया है ।[1] आचार्य रूय्यक, जयदेव, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति के वर्णन में विभावना अलंकार को स्वीकार किया है ।[2]

आचार्य दण्डी प्रसिद्ध हेतु के अभाव में कार्य की उत्पत्ति को विभावना स्वीकार किया है ।[3]

आचार्य भामह ने क्रिया के प्रतिषेध में फलाभिव्यक्ति को विभावना के रूप में स्वीकार किया है । किन्तु इन्होंने 'समाधौ सुलभे सति' का भी उल्लेख किया है जिससे विदित होता है कि फल की उत्पत्ति तभी संभव है जब समाधान सुलभ हो । अर्थात् लोक प्रसिद्ध कारण के अतिरिक्त अन्य कारण विद्यमान है आचार्य दण्डी भी प्रसिद्ध हेतु के अभाव में कारणान्तर की कल्पना की है । वामन की परिभाषा भामह - अनुकृत है ।[4]

---

1. (क) भा०, काव्या०, 2/77
   (ख) क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना । — काव्या० सू०, 4/3/13
   (ग) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना । — का०प्र०, 10/107
2. (क) कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना । — अ०स०, पृ० - 157
   (ख) विभावना विनापिस्यात् कारणं कार्यजन्य चेत् ।। — चन्द्रा०, 5/77
   (ग) कारणेन बिना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद्विभावना ।। — प्रताप०, पृ० - 509
   (घ) विभावना बिना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।। — सा०द०, 10/66
3. का०द०, 2/199
4. काव्या० सू०, 4/3/13

आचार्य अजितसेन की परिभाषा दण्डी से प्रभावित है । विभावना का अर्थ है विशिष्ट भावना या कल्पना । विभावना में कारण के अभाव का अर्थ वास्तव में कारण का न होना नहीं है, किन्तु तात्पर्य कारणान्तर से कारण तो होता है परलोक प्रसिद्ध या सामान्य कारण का अभाव बताकर अप्रसिद्ध कवि-कल्पित कारणान्तर का प्रतिपादन किया जाता है ।[1]

विशेषोक्तिः-

यह अलंकार विभावना के विपरीत है इसमें समग्र कारणों के रहने पर भी कार्य की अनुतपत्ति का प्रतिपादन किया जाता है । आचार्य भामह के अनुसार जहाँ एक गुण की हानि होने पर उसकी पूर्ति गुणान्तर से की जाए, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है ।[2]

आचार्य दण्डी ने वर्णनीय वस्तु की अतिशयता सिद्ध करने के लिए अपेक्षित गुण, जाति, क्रिया आदि के वैकल्य या न्यूनता के कथन में विशेषोक्ति को स्वीकार किया है ।[3] आचार्य वामन ने विशेषोक्ति को रूपक से अनुप्राणित स्वीकार किया है ।[4]

आचार्य भोज तथा अग्निपुराणकार ने दण्डी के ही लक्षण को उद्धृत कर दिया ।[5] आचार्य उद्‌भट की परिभाषा ही परिवर्ती आचार्यों में मान्य हुई । उद्‌भट ने विशेषोक्ति के सन्दर्भ में यह बताया कि कार्योत्पत्ति के समग्र कारण के विद्यमान रहने पर भी यदि कार्य (फल) की अनुत्पत्ति का प्रतिपादन किया जाए तो वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है ।[6]

आचार्य अजितसेन के अनुसार भी कार्योत्पत्ति के समग्र साधनों के रहने पर भी यदि कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन किया जाए तो वहाँ विशेषोक्ति अलंकार

---

1. प्रसिद्धकारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना । अ०चि०, 4/204
2. भा० - काव्या०, 3/23
3. का०द०, 2/323
4. काव्या० सू०, 4/3/23
5. (क) स०क०भ०, 4/70, 71
   (ख) अ०पु०, 8/26, काव्यशास्त्रीय भाग पृ० - 75
6. काव्या०सा०सं०, 5/4

होता है ।[1] इसमें फलाभाव के कारण ही चमत्कार की सृष्टि होती है । कारण के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन करना ही इस अलंकार का जीवनाधायक तत्त्व है ।

विद्यानाथ, जयदेव, दीक्षित, विश्वनाथ एवं पण्डितराजादि की परिभाषाएँ उद्भट से प्रभावित हैं ।[2]

असंगतिः-

आचार्य रुद्रट के अनुसार जहाँ कारण तथा कार्य की स्थिति भिन्न स्थल पर समकाल में हो वहाँ असंगति अलंकार होता है ।[3] आचार्य मम्मट ने काल के अतिरिक्त देश (स्थान) को भी स्थान दिया है ।[4] जिसे परवर्ती काल में आचार्य रुय्यक ने भी स्वीकार किया है ।[5] मम्मट, रुय्यक तथा शोभाकर मित्र की परिभाषा रुद्रट से प्रभावित है ।

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ एक स्थान में रहने वाले कार्य - कारण की पृथक् देश में स्थिति का वर्णन किया जाए वहाँ असंगति अलंकार होता है । इन्होंने रुद्रट की भाँति असंगति में कार्य तथा कारण के भिन्न देशत्व पर विशेष बल दिया है । आशय यह है कि असंगति में कारण और कार्य भिन्न - भिन्न आश्रयों में वर्णित होते हैं किन्तु लोक प्रसिद्ध संगति यही है कि जहाँ कारण रहता है कार्य भी वहीं उत्पन्न होता है । परन्तु यदि कवि लोकातिक्रान्त प्रतिभा द्वारा कारण और कार्य का स्थान भिन्न-भिन्न बताए, तो उसमें उत्पन्न काव्य-वैचित्र्य ही असंगति अलंकार के रूप में स्वीकार किया जाता है ।[6]

---

1. विशेषोक्तिस्तु सामग्र्यां सत्यां कार्यस्य नोद्भवः ।। अ०चि० 4/204
2. (क) प्रतापरुद्रीयम् पृ० - 509
   (ख) चन्द्रा०, 5/78
   (ग) कुव०, 83
   (घ) सा०द०, 10/66
   (ङ) र०गं०, पृ० 589-90
3. रुद्रट०काव्या०, 6/48
4. का०प्र०, 10/124
5. अ०स०, पृ० - 164
6. कार्यकारणयोरेकदेशसंवर्तिनोरपि ।
   भिन्नदेशस्थितिर्यत्र तत्रासंगत्यलंकृतिः ।। अ०चि०, 4/206, पृ०-179

परवर्ती आचार्य विद्यानाथ विश्वनाथ अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज की परिभाषाएँ अजितसेन से प्रभावित हैं ।[1]

विचित्रः-

इस अलंकार की उद्भावना का श्रेय आचार्य रूय्यक को है । आश्चर्य की प्रतीति होने के कारण ही इस अलंकार को विचित्र की अभिधा प्रदान की गयी है ।

आचार्य रूय्यक के अनुसार जहाँ इष्टफल की प्राप्ति के लिए उसके विरुद्ध प्रयत्न किया जाए वहाँ विचित्र अलंकार होता है ।[2]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ अपने अनभिमत फल-प्राप्ति के लिए विस्तृत रूप से उद्योग किया जाए वहाँ विचित्र अलंकार होता है ।[3] इन्होंने प्रयत्न के स्थान पर उद्योग पद का उल्लेख किया है शेष अंश रूय्यक के समान है ।

आचार्य शोभाकर मित्र, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज ने इस अलंकार का उल्लेख किया है । इनकी परिभाषाएँ भी अजितसेन से अभिन्न हैं ।[4]

---

1. (क) कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे सत्यसंगतिः । प्रतापo, पृo-511
   (ख) साoदo, - 10/68
   (ग) कुवलयानन्द, 85-86
   (घ) रoगंo, पृo - 590-93
2. अoसo, पृo - 168
3. स्वविरुद्धफलाप्त्यर्थमुद्योगो यत्र तन्यते ।
   विचित्रालंकृतिं प्राहुस्तां विचित्रविदो यथा ।। अoचिo, 4/208
4. (क) विफलः प्रयत्नोविचित्रम् । अoरo, 62
   (ख) चन्द्राo, - 5/82
   (ग) एकावली - 2/39
   (घ) प्रतापo - पृo 511
   (ङ) साoदo - 10/71
   (च) कुवलयानन्द - 94
   (छ) रoगंo, पृo - 608

अन्योन्य:-

आचार्य रुद्रट के अनुसार जहाँ दो पदार्थों में परस्पर क्रिया द्वारा एक ही कारकभाव हों और उससे किसी तत्त्व विशेष की अभिव्यक्ति हो, वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है ।[1]

आचार्य मम्मट की परिभाषा रुद्रट से प्रभावित है । इनके अनुसार जहाँ क्रिया के द्वारा दो पदार्थों की परस्पर उत्पत्ति की चर्चा की जाए वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है ।[2]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ परस्पर एक क्रिया द्वारा उत्पाद्य-उत्पादक भाव हो वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है । उत्पाद्य-उत्पादक भाव परस्पर भूष्य-भूषक भाव की सृष्टि करता है ।[3]

परवर्ती आचार्यों में विद्यानाथ एवं विश्वनाथ ने अजितसेन के मत को ही स्वीकार किया है ।[4]

विषम:-

इस अलंकार का निरूपण भामह, दण्डी, एवं वामन ने नहीं किया। इसको उद्भावित करने का श्रेय आचार्य रुद्रट को है । इनके मत में विषम अलंकार वास्तव मूलक और अतिशय मूलक होता है । जहाँ दूसरे के अभिप्राय की स्थिति की आशंका से वक्ता दो पदार्थों के सम्बन्ध को विघटित करता है, वहाँ वास्तव में विषम का प्रथम प्रकार होता है । जहाँ दो पदार्थों का अनुचित सम्बन्ध वर्णित होता है वहाँ द्वितीय प्रकार का विषम होता है ।[5]

कार्यकारण सम्बन्ध में गुणगत अथवा क्रियागत विरोध होने पर अतिशयमूलक के दो भेद होते हैं ।[6]

---

1. रु0,काव्या0, 7/91
2. का0प्र0 - 10/120
3. अ0चि0, 4/210
4. तदन्योन्यं मिथो यत्रोत्पाद्योत्पादकता भवेत् । प्रताप0, पृ0-512
5. रुद्रट काव्या - 7/47/49
6. वही, 9/45

राजानक मम्मट और विश्वनाथ की भेदसरणि रूद्रट के मतवाद पर आधृत हैं ।[1]

आचार्य अजितसेन ने विषम के तीन भेदों का उल्लेख किया है ।[2]

(1) कारण के विरूद्ध कार्य की उत्पत्ति में प्रथम प्रकार का विषम, (2) अनर्थ-प्राप्ति में द्वितीय, विषम स्थान पर तद्विपरीत परिणाम के निरूपण में द्वितीय प्रकार का विषम, (3) विरूप संघटना में तृतीय विषम ।

अजितसेन ने विषम का लक्षण न देकर केवल भेदों का ही उल्लेख किया है । इसका समग्र लक्षण अननुरूप संघटना के वर्णन में ही निहित है ।

परवर्ती काल में आचार्य विद्यानाथ कृत परिभाषा पर अजितसेन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।[3] शोभाकर मित्र ने अजितसेन द्वारा निरूपित तीन भेदों के अतिरिक्त दो अन्य भेदों का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार है[4] -

(1) अनर्थ के स्थान पर अनर्थ की प्राप्ति
(2) अनर्थ के स्थान पर अर्थ की प्राप्ति
(3) विरूप कार्य की उत्पत्ति
(4) विरूप संघटना
(5) असम्भवता

उपर्युक्त भेदों में प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ भेद अजितसेन से प्रभावित है ।

---

1. (क) का0प्र0 - 10/126-27
   (ख) सा0द0 - 10/91
2. हेतोर्विरुद्धकार्यस्य यत्रानर्थस्य चोद्भवः ।
   विरूपघटना त्रेधा विषमालंकृतिर्यथा ।। अ0चि0, 4/212
3. प्रताप0 पृ0 - 513
4. अ0र0, सू0 60 तथा वृत्ति, पृ0 - 105

समः-

इस अलंकार का निरूपण आचार्य मम्मट से आरम्भ होता है । यद्यपि इसके निरूपण का श्रेय आचार्य रुद्रट कृत 'साम्य' अलंकार में निहित है ।

जहाँ अर्थ क्रिया के द्वारा उपमान की उपमेय में समता दिखाई जाए वहाँ सम अलंकार होता है ।[1]

आचार्य मम्मट ने यथायोग्य सम्बन्ध को सम अलंकार कहा है ।[2]

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा भी मम्मट के निकट है । इसमें परस्पर समान रूप वाले पदार्थों का सम्बन्ध वर्णित किया जाता है ।[3]

परवर्ती आचार्य विद्यानाथ विश्वनाथ, जयदेव आदि की परिभाषा मम्मट के ही समान है ।[4]

(3) गम्यौपम्यमूलक अलंकारः-

तुल्ययोगिताः-

यह प्राचीनतम अलंकार है किन्तु प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों की परिभाषाओं में पर्याप्त अन्तर परिलक्षित होता है, जो परिभाषा भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने लिखी उससे भिन्न परिभाषा मम्मट आदि अर्वाचीन आचार्यों ने की है।

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ न्यून पदार्थ का विशिष्ट पदार्थ के साथ गुण साम्य की विवक्षा से तुल्य कार्य एवं क्रिया के योग का प्रतिपादन किया

---

1. रु0 काव्या - 8/105
2. समंयोग्यतया योगोयदि सम्भावितः क्वचित् । — का0प्र0, 10/125
3. यत्रान्योन्यानुरूपाणामर्थानां घटना समम् ।
   सुभद्रा भरतेशस्य लक्ष्म्या सममभूद्वरा ।। — अ0चि0, 4/215
4. (क) सा समालंकृतिर्योग वस्तुनोरनुरूपयोः ।। — प्रताप0, पृ0 - 515
   (ख) समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योगस्यं वस्तुनः ।। — सा0द0, 10/71
   (ग) सममौचित्यतोऽनेक वस्तुसम्बन्धवर्णनम् ।। — चन्द्रा0, 5/81

जाए वहाँ तुल्योगिता नामक अलंकार होता है । भामह के लक्षण से इस तथ्य का द्योतन होता है कि प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में एक ही कार्य का वर्णन करते समय दोनों में समता स्थापन किया जाय ।[1]

आचार्य दण्डी एवं वामन, प्रस्तुत की स्तुति या निन्दा करने के लिए उन्हीं गुणों से युक्त अप्रस्तुत से तुल्य गुण योग के कारण समता करने पर तुल्योगिता स्वीकार करते हैं ।[2]

आचार्य उद्भट के अनुसार उपमान और उपमेय की उक्ति से शून्य अप्रस्तुत पदार्थ के द्वारा जहाँ प्रस्तुत में साम्य प्रतिपादन हो वहाँ तुल्योगिता अलंकार होता है ।[3]

मम्मट के अनुसार जहाँ समान कोटिक पदार्थों में सामान्य धर्म के द्वारा साम्य स्थापित किया जाये वहाँ तुल्योगिता अलंकार होता है । इनके अनुसार सभी वर्ण्य पदार्थ केवल प्राकरणिक होंगे अथवा केवल अप्राकरणिक और उनमें एक ही धर्म के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाएगा ।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ केवल प्रस्तुतो में अथवा अप्रस्तुतो में तुल्य धर्म के कारण उपमा की प्रतीति हो वहाँ तुल्योगिता अलंकार होता है। यहाँ प्रस्तुत का प्रस्तुत के साथ और अप्रस्तुत का अप्रस्तुत के ही साथ एक धर्माभिसम्बन्ध होगा । प्रस्तुत या अप्रस्तुत पदार्थ किसी एक क्रिया के कर्त्ता कर्म या करण रूप में रहेंगे । इसी प्रकार उनके एक ही गुण से सम्बन्ध रहने पर भी यह अलंकार होगा । इस अलंकार के मूल में औपम्य गम्य रहता है ।[5] इसके अतिरिक्त इन्होंने भामह की भाँति तुल्यकाल तथा क्रिया के योग में भी तुल्योगिता अलंकार को स्वीकार किया है ।[6]

---

1. भा0काव्या0 - 3/27
2. (क) का0द0, 2/330
   (ख) का0लं0सू0, 4/3/26
3. काव्या0सा0सं0, 5/11
4. नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।। का0प्र0, 10/104
5. केवल प्रस्तुतान्येषामर्थानां समधर्मतः ।
   यत्रौपम्यं प्रतीयेत भवेत्सा तुल्ययोगिता ।। अ0चि0, 4/216
6. उपमेयं समीकर्तुमुपमानेन युज्यते ।
   तुल्यैक काल क्रियया यत्र सा तुल्ययोगिता ।। अ0चि0, 4/220

दीपकः-

दीपक प्राचीनतम अलंकार है । आचार्य भरतमुनि के अनुसार जहाँ नानाधिकरणों में स्थित शब्दों का एक वाक्य में संयोग होना बताया जाए वहाँ दीपक अलंकार होता है ।[1]

आचार्य भामह ने इसके आदि, मध्य और अन्त - तीन भेदों का ही उल्लेख किया है ।[2]

आचार्य दण्डी ने दीपक का विस्तार से वर्णन किया है । इनके अनुसार जहाँ एक वाक्य में स्थित जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्यवाची पद सम्पूर्ण वाक्य का उपकार करें वहाँ दीपक अलंकार होता है ।[3]

आचार्य उद्भट ने भामह की भाँति आदि, मध्य तथा अन्त - दीपक का उल्लेख किया है इन्होंने उपमेय और उपमान का स्पष्ट उल्लेख भी किया है, इससे विदित होता है कि इन्हें प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एक धर्माभिसम्बन्ध में दीपक अलंकार अभीष्ट है ।[4]

आचार्य मम्मट ने उद्भट कृत परिभाषा के आधार पर दीपक की परिभाषा प्रस्तुत की है । किन्तु उद्भट की अपेक्षा मम्मट कृत परिभाषा अधिक स्पष्ट है। मम्मट के अनुसार जहाँ अनेक प्रकृत पदार्थों और अप्रकृत पदार्थों का एक धर्माभिसम्बन्ध बताया जाए वहाँ दीपक अलंकार होता है । अनेक क्रियाओं से एक कारक का सम्बन्ध होने पर कारक दीपक और अनेक कारकों से एक क्रिया का सम्बन्ध होने पर क्रिया दीपक अलंकार होता है ।[5]

---

1. नानाधिकरणार्थानां शब्दानां सम्प्रकीर्तितम् ।
   एकवाक्येन संयोगात्तद्दीपकमिहोच्यते ।। ना0शा0, 16/53
2. काव्या0, 2/25
3. का0द0, 2/97
4. काव्या0 सा0सं0, 1/14
5. सकृद्वृत्तिस्तुधर्मस्यप्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
   सैवक्रियासु वह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।।
   का0प्र0 - 10/103 एवं वृत्ति

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा पर भामह, दण्डी तथा मम्मट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है इनके अनुसार प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थों में जहाँ एक धर्माभिसम्बन्ध होने पर उपमान उपमेय की प्रतीति हो वहाँ दीपक अलंकार होता है । कहीं-कहीं औपम्य के न रहने पर भी दीपक अलंकार अभीष्ट है।[1] दीपक का अर्थ है - दीपयति - प्रकाशयति, इति दीपकः - जो प्रकाशित करे वह दीपक है । प्रस्तुत में निविष्ट समान धर्म, प्रसंग से अप्रस्तुत को भी जहाँ प्रकाशित करे - प्रस्तुत का धर्म जहाँ अप्रस्तुत में अन्वित हो, वहाँ दीपक अलंकार होता है । अथवा दीप इवेति 'संज्ञायां कन् (समुद्रबन्ध, अलंकार सर्वस्व, 24) - दीप की भाँति प्रकाशक होने से दीपक है । दीप को प्रासाद पर रख दीजिए, वह गली को भी आलोकित करेगा । इसी प्रकार प्रस्तुत में स्थित धर्म अप्रस्तुत के धर्म का ज्ञापन करता है ।"[2]

(4) वाक्यार्थमूलक अलंकारः-

प्रतिवस्तूपमाः-

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ यथा, वा आदि समानता के वाचक पदों का अभाव होने पर भी समान-वस्तु विन्यास के कारण गुण साम्य की प्रतीति हो वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है । आचार्य भामह ने प्रतिवस्तूपमा के निम्नलिखित तत्त्वों पर विचार किया है -

(क) प्रतिवस्तूपमा में साधारण धर्म एक ही होता है, किन्तु उसे भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है किन्तु दृष्टान्त में दो समान धर्म होते हैं एवं उन्हें दो शब्दों द्वारा कहा जाता है ।

(ख) प्रतिवस्तूपमा में वस्तु प्रतिवस्तुभाव होता है तो दृष्टान्त में बिम्ब प्रति बिम्बभाव । प्रतिवस्तूपमा में साधारण धर्म कथित होता है पर दृष्टान्त में साधारण धर्म अपने मूल रूप में नहीं रहता ।

---

1. सामस्त्ये प्रस्तुतान्येषां तुल्यधर्मात्प्रतीयते ।
   औपम्यं दीपकं तत्स्यादादिमध्यान्ततस्त्रिधा ।।
   क्वचिदौपम्याभावेऽपि दीपकं यथा ।

   अ0चि0, 4/222 एवं वृत्ति

2. चन्द्रालोक, सुधा हिन्दी टीका, ले0 सिद्धसेन दिवाकर, पृ0 - 59

धर्म पर होती है, जबकि दृष्टान्त में कवि का ध्यान धर्म एवं धर्मी दोनों पर टिका रहता है ।[1]

आचार्य दण्डी के अनुसार जहाँ किसी एक वस्तु का वर्णन कर तत्सदृश धर्म वाली अन्य वस्तु का वर्णन किया जाए वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है।[2]

आचार्य उद्भट के अनुसार जब उपमेय एवं उपमान के प्रसंग में साधारण धर्म का बार-बार उपादान किया जाए तो वहाँ प्रतिवस्तुपमा अलंकार होता है।[3]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ एक ही सामान्य धर्म की दो वाक्यों में स्थिति बताई जाए वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है । किन्तु दोनों ही वाक्यों में साधारण धर्म के प्रतिपादक शब्द भिन्न-भिन्न होते हैं, क्योंकि समान पद रखने से पुनरुक्त दोष हो जाता है अतः उस दोष से बचने के लिए दोनों ही वाक्यों में एक ही समान धर्म के वाचक दो भिन्न-भिन्न पदों का उल्लेख किया जाता है ।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ दो वाक्यों में समता हो और उनके अर्थ की समता से उपमान, उपमेय भाव की प्रतीति हो वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है इन्होंने अन्वय और व्यतिरेक रूप से दो भेदों का उल्लेख भी किया है इनके द्वारा निरूपित परिभाषा में निम्नलिखित चार तत्त्वों का आधान हुआ है- (1) दो वाक्यों या वाक्यार्थों का होना (2) दोनों वाक्यों या वाक्यार्थों में एक का उपमेय और दूसरे का उपमान होना, (3) दोनों वाक्यों या वाक्यार्थों में एक साधारण धर्म का होना और, (4) उस साधारण धर्म का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन किया जाना ।[5]

---

1. समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते ।
   यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ।   भा0काव्या0, 2/34
   साधुसाधारणत्वादि गुणोऽत्रव्यतिरिच्यते ।
   स साम्यमापादयति विरोधेऽपि तयोर्यथा ।।   वही - 2/35

2. काव्यादर्श - 2/46

3. काव्या0सा0सं0, 1/22-23

4. प्रतिवस्तूपमा तु सा ।
   सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वयेस्थितिः ।।   का0प्र0, 10/101 एवं वृत्ति

5. वाक्ययोर्यत्र सामान्यनिर्देशः पृथगुक्तयोः ।
   प्रतिवस्तूपमा गम्यौपम्या द्वेधान्वयान्यतः ।।
   पृथगुक्तवाक्यद्वये यत्र वस्तुभावेन सामान्यं निर्दिश्यते तदर्थसाम्येन गम्यौपम्या प्रतिवस्तूपमा । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सा द्विधा ।

परवर्ती आचार्य विद्यानाथ विश्वनाथ तथा जगन्नाथादि की परिभाषाएँ प्रायः अजितसेन के समान है ।[1]

दृष्टान्तः-

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ अभिमतार्थ का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से निर्देश किया जाए वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है ।[2]

आचार्य उद्भट के अनुसार जहाँ उपमेय तथा उपमान वाक्यों में एवं उनके धर्मों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो और सादृश्य व्यंग्य हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है ।[3] इन्होंने इसे काव्य दृष्टान्त की अभिधा प्रदान करके न्याय दृष्टान्त से भिन्न बताया है ।

आचार्य मम्मट ने भामह तथा उद्भट की भाँति इसमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की चर्चा की है तथा इसमें उपमान, उपमेय, साधारण धर्म इन तीनों प्रतिबिम्ब की भी चर्चा की है इनके अनुसार बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव अलंकार का प्राण है।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ दो वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव रूप सामान्य धर्म का कथन हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है । इन्होंने इसके साधर्म्य दृष्टान्त एवं वैधर्म्य दृष्टान्त - रूप से दो भेदों का उल्लेख किया है।[5]

---

1. (क) प्रतापरुद्रीयम् - रत्नापणबालक्रीडासहित, पृ0 - 52।
   (ख) सा0द0, - 10/49
   (ग) कुवलयानन्द - 5।
   (घ) रसगंगाधर - पृ0 - 442
2. उक्तस्यार्थस्य दृष्टान्तं प्रतिबिम्ब निदर्शनम् ।। भा0-काव्या0, 8/94
3. इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम् ।
   यथेवादिपदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ।। काव्या0सा0सं0, 6/8
   इष्टस्य प्राकरणिकतया ----- तत्र काव्यदृष्टान्तोनामालंकारः ।
   लघु वृत्ति, पृ0 - 85
4. दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।। काव्यप्रकाश 10/102
   दृष्टोऽन्तो निश्चयों यत्र स दृष्टान्तः ।। वही
5. वाक्ययोर्यत्र चेद् बिम्बप्रबिम्बतयोदितम् ।
   सामान्यं सह दृष्टान्तः साधर्म्येतरतो द्विधा ।। अ0चि0, 4/233

इनकी परिभाषा में निम्नलिखित तत्वों का आधान हुआ है -

(1) इस अलंकार में सर्वथा दो वाक्य होते हैं । प्रथम वाक्य द्राष्टान्तिक होता है तथा द्वितीय वाक्य दृष्टान्त ।[1]

(2) दोनों ही वाक्यों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का होना आवश्यक बताया गया है ।

परवर्ती आचार्यों की परिभाषाएँ अजितसेन से प्रभावित हैं ।[2]

निदर्शना: -

इन अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है । इनके अनुसार जहाँ उपमान की अपेक्षा प्रसिद्ध किन्तु उदासीन पदार्थों का कथन हो वहाँ निदर्शना अलंकार होता है ।[3] इन्होंने स्पष्ट रूप से उपमानोपमेयभाव का निर्देश नहीं किया है किन्तु इनके 'यत्रार्थानां प्रसिद्धनां' पद से उपमेय का और 'परापेक्षाप्युदासार्थे' - पद से उपमान का ग्रहण किया जा सकता है । अर्थात् जहाँ उपमान के द्वारा उपमेय का निर्देश किया जाए, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।

आचार्य भामह के अनुसार दृष्टान्त अलंकार में क्रिया के द्वारा ही विशिष्टार्थ का प्रतिपादन किया जाता है । इसमें यथा, इव, वति आदि सादृश्यमूलक शब्दों का प्रयोग नहीं होता है ।[4]

दण्डी के अनुसार अर्थान्तर में प्रवृत्त कर्ता के द्वारा जहाँ सदसदात्मक तत्सदृश फल की उत्पत्ति हो वहाँ निदर्शना अलंकार होता है ।[5]

---

1. का0प्र0, बालबोधिनी टीका, पृ0 - 637
2. (क) चन्द्रालोक - 5/56 .
   (ख) प्रताप0, पृष्ठ - 52।
   (ग) र0गं0, पृ0 - 452
3. यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियतेपरिकीर्तनम् ।
   परापेक्षाप्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ।। ना0शा0 16/15
4. भा0काव्या0 - 3/33
5. काव्यादर्श, 2/348

आचार्य उद्भट के मत में जहाँ असंभव तथा संभव पदार्थ के आधार पर सादृश्य की स्थापना की जाए, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है । उद्भट ने इसे निदर्शना न कहकर विदर्शना कहा है ।[1]

वामन ने भामह का ही अनुकरण किया है ।[2]

मम्मट के अनुसार जहाँ अभवन्वस्तु के सम्बन्ध में वस्तु सम्बन्ध की योजना करने के लिए काल्पनिक उपमान की सृष्टि की जाए, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है ।[3]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ उपमान और उपमेय में रहने वाला धर्म सर्वथा असम्भव हो, वहाँ अन्वय करने के लिए संयुक्तकर बिम्ब क्रिया (औपम्य) का आक्षेप किया जाए, उसे निदर्शना अलंकार कहते हैं । इसके दो भेद हैं- (1) उपमान का उपमेयगतत्वेन असम्भवा और (2) उपमेय का उपमानगतावेन असम्भवा।

इनके पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट भी असंभव वस्तु सम्बन्ध में निदर्शना अलंकार को स्वीकार किया था उसी के आधार पर आचार्य अजितसेन ने भी निदर्शना का लक्षण प्रस्तुत किया है किन्तु इनकी परिभाषा अधिक स्पष्ट है । इनके अनुसार जहाँ उपमान और उपमेय में औपम्य संभव न हो सके तो भी येन-केन-प्रकारणेन साधारण धर्म का आक्षेप करके उन दोनों में बिम्ब क्रिया के माध्यम से औपम्य की स्थापना की जाए तो वहाँ निदर्शना अलंकार होता है ।[4]

विद्यानाथ कृत परिभाषा अजितसेन कृत परिभाषा से अनुकृत है ।[5]

---

1. अभवन् वस्तु-सम्बन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत् ।
   उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा बिदर्शना । काव्या0सा0सं0, 5/10
2. क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम् । काव्या0सू0, 4/3/20
3. निदर्शना अभवन् वस्तु सम्बन्ध उपमापरिकल्पक: । का0प्र0, 10/97
4. उपमानोपमेयस्थौ यत्र धर्मावसंभवौ ।
   संयोज्याक्षिप्यते बिम्बक्रिया द्वेधा निदर्शना ।
   अ0चि0 4/236 एवं वृत्ति
5. प्रताप0 पृ0 - 523 रत्नापण बालक्रीड़ा टीका

व्यतिरेक:-

व्यतिरेक अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भामह ने किया है। इनके अनुसार जहाँ उपमान युक्त अर्थ में वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया जाए वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है । इन्होंने उपमान की तुलना में उपमेय के उत्कर्ष प्रदर्शन को ही व्यतिरेक माना है ।[1]

आचार्य दण्डी की परिभाषा भामह से भिन्न है । इनके अनुसार जहाँ दो पदार्थों में भेदकथन हो और सादृश्य की प्रतीति वाच्य अथवा प्रतीयमान रूप में हो तो वहाँ व्यतिरेकालंकार होता है ।[2] दण्डी ने यह स्पष्ट नहीं किया कि उपमेय में आधिक्य का वर्णन किया जाए या उपमान में ।

उद्भट ने उपमान और उपमेय में वैशिष्ट्य के कथन को ही व्यतिरेक अलंकार माना है । इन्होंने दृष्ट और अदृष्ट होने का उल्लेख किया है ।[3]

आचार्य वामन ने उपमेय के आधिक्य में ही व्यतिरेकालंकार माना है ।[4]

मम्मट की परिभाषा वामन से प्रभावित है । मम्मट भी उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणाधिक्य में व्यतिरेक अलंकार स्वीकार करते हैं ।[5]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ उपमान और उपमेय में भेद प्रधान सादृश्य की प्रतीति हो वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है । इन्होंने इसके दो भेदों का उल्लेख किया है - (1) उपमान से उपमेय की अल्पता में (2) उपमान से उपमेय की अधिकता से ।

आशय यह है कि व्यतिरेक में उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणोत्कर्ष

---

1. भा0-काव्या0, 2/75
2. काव्यादर्श - 2/180
3. काव्या0 सा0 सं0 - 2/6
4. उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः । काव्या सू0-4/3/22
5. उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः । का0प्र0; - 10/105

का प्रतिपादन किया जाता है । कभी-कभी उपमेय की अधिकता के कथन से भी भेद प्रधान सादृश्य की प्रतीति में व्यतिरेक अलंकार होता है ।[1]

आचार्य विद्यानाथ विश्वनाथ पञ्चानन तथा अप्पय दीक्षित उपमेय की अल्पता में व्यतिरेक अलंकार को स्वीकार करते हैं ।[2] जो अजितसेन कृत परिभाषा के प्रथम भेद से प्रभावित है । इसके अतिरिक्त भामह दण्डी, पण्डितराजादि उपमेय की अधिकता में इस अलंकार को स्वीकार करने के पक्ष में हैं ।[3]

श्लेषः-

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने श्लेष अलंकार का निरूपण किया है । किन्तु पूर्व ही भरतमुनि ने गुण प्रकरण में स्थान देकर इसके महत्त्व की अभिवृद्धि की है । जिसके आधार पर परवर्ती काल में शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष की उद्भावना हुई ।[4]

भामह के अनुसार गुण, क्रिया, नाम या संज्ञा के द्वारा उपमान का उपमेय के साथ अभेद स्थापन को श्लेष के रूप में स्वीकार किया गया है ।[5]

---

1. प्रतिबिम्बनं भेदप्रधानं तु सदृक्षत्वं सधर्मणोः ।
   अल्पाधिक्योक्तिभेदेन व्यतिरेको द्विधा यथा ।।
   सधर्मणोरुपमानोपमेययोरुपमानादुपमेयस्याल्पत्वेन आधिक्येन वा वचनेन भेदमुख्यं सादृश्यं प्रतीयते स व्यतिरेकः ।
   अ0चि0 4/239 एवं वृत्ति
2. (क) भेदप्रधान साधर्म्यमुपमानोपमेययोः ।
   आधिक्याल्पत्वकथनाद् व्यतिरेक स उच्यते ।। प्रताप0, पृ0-525
   (ख) सा0द0, 10/52
   (ग) कुवलयानन्द - 57
   (घ) चन्द्रालोक - 5/59
3. (क) भा0काव्या0 - 2/75
   (ख) काव्यादर्श - 2/180
   (ग) रसगंगाधर पृ0 - 557
4. ना0शा0, 16/98-99
5. भा0काव्या0 - 3/14-15

दण्डी के अनुसार एक रूपान्वित कथन से जहाँ अनेकार्थ प्रतीति हो वहाँ श्लेष अलंकार होता है ।[1]

आचार्य भामह कृत परिभाषा में एकार्थता तथा अनेकार्थता का स्पष्ट उल्लेख नहीं है इसको पूर्ण करने का श्रेय दण्डी को है ।[2]

उद्भट ने प्रथमतः शब्द श्लेष तथा अर्थ श्लेष का विवेचन पृथक्-पृथक् किया है जिसे परवर्ती आचार्य मम्मट तथा बलदेव विद्या भूषण ने भी सादर स्वीकार किया है । इनके अनुसार जहाँ एक प्रयत्न उच्चार्य शब्द प्रयुक्त होते हैं वहाँ अर्थ श्लेष तथा उनकी छाया धारण करने वाले शब्दों के प्रयोग में शब्द श्लेष होता है ।[3]

वामन कृत परिभाषा भामह से प्रभावित है ।[4]

रुद्रट के अनुसार जहाँ श्लिष्ट, अश्लिष्ट और विविध पदों की सन्धि से युक्त अनेक अर्थों को बताने वाले अनेक वाक्यों की एक साथ रचना हो वहाँ शब्द श्लेष तथा अनेकार्थक पदों से युक्त एक वाक्य के द्वारा अनेक अर्थों की प्रतीति होने पर अर्थ श्लेष होता है ।[5]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ भिन्न या अभिन्न पदों के द्वारा एक ही वाक्य अनेक पदों को प्रतिपादित करे वहाँ श्लेष अलंकार होता है ।[6]

आचार्य मम्मट ने श्लेष के दो भेदों का उल्लेख किया है - शब्द श्लेष तथा अर्थ श्लेष ।[7] किन्तु आचार्य अजितसेन ने शब्द श्लेष को स्थान नहीं दिया है ।

---

1. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेक रूपान्वितं वचः ।। काव्यादर्श 2/310
2. काव्यादर्श - 2/113
3. काव्या0सा0सं0 - 4/9/10
4. काव्या0सू0 - 4/3/7
5. रुद्रट - काव्या0 - 4/1, 4/31, 4/32 एवं 10/1
6. पदैर्भिन्नैरभिन्नैर्वा वाक्यं यत्रैकमेव हि ।
   अर्थाननेकान् प्रब्रूते स श्लेषो भणितो यथा ।। अ0चि0, 4/242
   भिन्नपदैरनेकार्थी वाक्यं यत्र वक्ति स श्लेषो । वही वृत्ति
7. का0प्र0 - 9/84, 10/96

आचार्य विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित एवं पण्डित राज जगन्नाथ कृत परिभाषा अजितसेन के समान है ।[1]

(5) **विशेषण-वैचित्र्यमूलक अलंकार:-**

परिकर:-

आचार्य रुद्रट के अनुसार जहाँ कोई वस्तु या विशेष अभिप्राय युक्त विशेषणों द्वारा विशेषित हो वहाँ परिकर अलंकार होता है । द्रव्य, गुण, क्रिया एवं जाति के आधार पर इसके चार भेदों का उल्लेख किया है ।[2]

मम्मट ने अनेक सार्थक विशेषणों के द्वारा वर्णनीय पदार्थ के पोषण में इस अलंकार को स्वीकार किया है ।[3] मम्मट के द्वारा इस अलंकार का लक्षण स्थिर हो गया ।

आचार्य अजितसेन रूय्यक जयदेव विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित एवं पं० राज जगन्नाथ तक इसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया ।[4]

---

1. (क) सा०द०, 10/11

(ख) नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः ।। कुव०, 64
अनेकार्थ शब्द विन्यासः श्लेषः । वही, पृ० - 98 (चौखम्बा)
उभयमप्यर्थालंकार इति स्वाभिप्रायः ।। वही, पृ० - 105

(ग) श्रुत्यैकयानेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः ।।
तच्च द्वेधा । अनेक धर्म पुरस्कारेणैकधर्मपुरस्कारेण च । आद्यं द्वेधा । अनेकशब्दप्रतिमानद्वारा एकशब्दप्रतिमानद्वारा चेति विविधः श्लेषः । र०गं०, पृ० - 523

2. साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्यते ।
द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः सइति ।। काव्या०, 7/2

3. विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः । का०प्र०, 10/118

4. (क) विशेषणे त्वभिप्राययुते परिकरोयथा ।
स्वयोगे चक्रिणस्तापमह्नितेन्दुमुखी वधुः ।। अ०चि०, 4/245
(ख) विशेषण साभिप्रायत्वंपरिकरः । अ०स०, सू० 32
(ग) अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे । चन्द्रा०, 5/39
(घ) प्रताप० पृ०-530 (ङ) सा०द०, 7/9
(च) कुव०, 62 (छ) र०गं०, पृ० - 519

आचार्य अजितसेन ने भी इसे विशेषण वैचित्र्य मूलक अलंकार के अन्तर्गत परिगठित किया है और अभिप्राय युक्त विशेषण में इसकी स्थिति स्वीकार की है ।[1]

परिकरांकुरः-

परिकरांकुर अलंकार को निरूपित करने का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य अजितसेन को है इनके अनुसार जहाँ साभिप्रायक विशेष्य का वर्णन हो वहाँ परिकरांकुर अलंकार होता है ।[2]

परवर्ती काल में विद्याधर तथा अप्पय दीक्षित ने भी अजितसेन के लक्षण के आधार पर इसका निरूपण किया है ।[3]

व्याजस्तुतिः-

आचार्य भामह, दण्डी, वामन और उद्‌भट स्तुति पर्यवसायीनिन्दा में इसकी अलंकारता स्वीकार करते हैं[4] राजानक मम्मट, विद्यानाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ व्याजस्तुति को उभय पर्यवसायी मानते है ।[5] आशय यह है कि जहाँ व्याज से निन्दा के द्वारा स्तुति की जाए अथवा स्तुति के द्वारा निन्दा की जाए वहाँ व्याजस्तुति नामक अलंकार होता है ।

---

1. विशेषणवैचित्र्यमूलपरिकरः कथ्यते । अ0चि0, पृ0-192
2. विशेष्ये साभिसंधौ तु मतः परिकरांकुरः ।
   चतुर्णामनुयोगानांप्रणेतासौ चतुर्मुखः ।। अ0चि0, 4/246
3. (क) एकावली, 8/25
   (ख) कुव0, 63
4. (क) काव्या0, 3/31
   (ख) का0द0, 2/346
   (ग) काव्या0 सू0, 4,3, 24
   (घ) काव्या0 सा0 सं0, 5/9
5. (क) का0प्र0 10/112
   (ख) प्रताप0, पृ0 - 536
   (ग) र0गं0, पृ0 - 557

आचार्य अजितसेन ने भी निन्दा के द्वारा प्रशंसा की प्रतीति में तथा प्रशंसा के द्वारा निन्दा की प्रतीति में व्याजस्तुति अलंकार को स्वीकार किया है ।[1]

अनुसंधात्री के अनुसार इस अलंकार को दो भागों में विभाजित कर पृथक्-पृथक् नामकरण करना उचित प्रतीत होता है । अर्थात् जहाँ निन्दा के द्वारा स्तुति की जाए वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होना चाहिए और जहाँ स्तुति के द्वारा निन्दा की जाए वहाँ व्याजनिन्दा नामक अलंकार होना चाहिए ।[2]

अप्रस्तुत प्रशंसा:-

इस अलंकार का उल्लेख प्रायः सभी आचार्यों ने किया है । भामह के अनुसार जहाँ अधिकार (प्रकरण) से अलग अप्राकरणिक किसी अन्य पदार्थ की जो स्तुति है उसे अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार कहते हैं ।[3]

दण्डी की परिभाषा अन्य आचार्यों से कुछ भिन्न है । इनके अनुसार जहाँ प्रस्तुत की निन्दा करते हुए अप्रस्तुत की प्रशंसा की जाए वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है ।[4]

उद्भट की परिभाषा भामह अनुकृत है ।[5]

वामन के अनुसार जहाँ उपमेय के किञ्चिद लिंग मात्र के कथन करने पर समान वस्तु की प्रतीति हो वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है ।[6] आचार्य कुन्तक की परिभाषा में कुछ नवीनता है । इनके मत में प्रस्तुत की विच्छित्ति (सौन्दर्य) के लिए ही, अप्रस्तुत का कथन होता है । इसमें साम्य तथा सम्बन्धान्तर

---

1. निन्दास्तुतिमुखाभ्यां तु स्तुतिनिन्दे प्रतीतिगे ।
   यत्र द्वेधा निगद्यते व्याजस्तुतिरियं यथा ।।
   निन्दामुखेन स्तुतिरेव यत्र प्रतीयते सा एका । स्तुतिमुखेन निन्दैव गम्यते, यत्र सा द्वितीया । अ0चि0, 4/256 एवं वृत्ति
2. अलंकार मंजूषा (भट्टदेवशंकर पुरोहित) अलंकार संख्या 31 पृ0-110
3. भा0का0लं0 - 3/29
4. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः । का0द0 2/340
5. का0लं0, सा0सं0, 5/8
6. किञ्चिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा । का0लं0, सू0, 4/3/4

भी पाया जाता है । अप्रस्तुत को वर्णन का विषय बनाया जाने के कारण इसे अप्रस्तुत अलंकार कहते हैं ।[1]

आचार्य भोज ने धर्म, अर्थ और काम तीनों में से किसी एक की बाधा होने पर किसी भी वाच्य हेतु अथवा प्रतीयमान हेतु के माध्यम से स्तोतव्य की जो स्तुति हो वह अप्रस्तुत अलंकार है ।[2]

मम्मट के अनुसार अप्रस्तुत के कथन से जहाँ प्रस्तुत का आक्षेप किया जाय वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है ।[3]

रूय्यक के अनुसार जहाँ अप्रस्तुत से सामान्य विशेषभाव, कार्य कारणभाव अथवा सादृश्य सम्बन्ध होने पर प्रस्तुत की प्रतीति हो वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है ।[4]

शोभाकर मित्र के अनुसार जहाँ अप्रस्तुत से अन्य (प्रस्तुत) की प्रतीति हो वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार होता है ।[5]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ अप्रस्तुत वृतान्त के कथन से प्रस्तुत वृतान्त की प्रतीति हो वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है । इन्होंने इसके अनेक भेद होने की चर्चा की है । इनके द्वारा सारूप्य कथन में, सामान्य विशेष भाव में, और कार्यकारणभाव में जहाँ अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत की प्रतीति हो वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार होता है ।[6] इनकी परिभाषा पर मम्मट कृत परिभाषा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।

---

1. वक्रोक्तिजीवितम्, 3/21, 22
2. स0क0भ0, 4/158, 159
3. अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया । का0प्र0 10/98
4. अ0स0, सू0 - 35
5. अ0र0, सू0 - 38
6. प्रकृतं यत्र गम्येताप्रकृतस्य निरूपणात् ।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा सारूप्यादेरनेकधा ।। अ॰चि॰ 4/259

आचार्य अजितसेन ने अप्रस्तुत प्रशंसा से समासोक्ति के पारस्परिक अन्तर के निर्धारण में अप्रस्तुत कथनांश पर विशेष बल दिया है । इसी के माध्यम से अप्रस्तुत प्रशंसा का अन्तर निर्धारित किया जा सकता है क्योंकि समासोक्ति अलंकार में वाच्य प्रस्तुत होता है और उसके द्वारा प्रस्तुत की प्रतीति होती है । अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में अप्रस्तुत का ही कथन होता है और उसी अप्रस्तुत वृतान्त कथन से प्रस्तुतार्थ की प्रतीति होती है, जबकि अनुमान में गम्य-गमक दोनों का प्रकृत में उपयोग रहता है ।[1]

इसके पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट, रुय्यक तथा शोभाकर मित्र ने अप्रस्तुतप्रशंसा के उपर्युक्त अन्तर का उल्लेख नहीं किया ।

आक्षेपः-

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ किसी विशेष कथन के अभिप्राय से अभीष्ट वस्तु का प्रतिषेधसा किया जाए वहाँ आक्षेप अलंकार होता है ।[2]

आचार्य दण्डी प्रतिषेधोक्ति को ही आक्षेपालंकार स्वीकार किया है ।[3]

आचार्य उद्भट ने भामह के ही लक्षण को उद्धृत कर दिया है ।[4] आचार्य वामन ने उपमान के आक्षेप में आक्षेप अलंकार को स्वीकार किया है ।[5]

परवर्ती आचार्यों ने भामह के अनुसार ही आक्षेप अलंकार का निरूपण किया है । उनकी परिभाषाओं में किसी नवीनता का आधान नहीं हुआ है ।[6]

---

1. अ0चि0, पृष्ठ - 196
2. भा0, काव्या0, 2/68
3. का0द0, 2/120
4. काव्या0सा0सं0, 2/2
5. उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः । काव्या0 सू0
6. (क) अ0स0, पृ0 - 144-49
   (ख) चन्द्रा0, 5/72-73
   (ग) कुव0, 73-74
   (घ) र0ग0, पृ0-566

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ भविष्य में कथन किए जाने वाले विषयों का अथवा कथित विषयों का विशेष ज्ञान कराने के लिए निषेधाभास सा कथन किया जाए वहाँ आक्षेप अलंकार होता है । इन्होंने आक्षेप अलंकार को चार भागों में विभाजित किया है -[1]

1. कथित विषय में वस्तु का निषेध
2. कथन का निषेध
3. वक्ष्यमाण विषय में सामान्य प्रतिज्ञा का विशेष निषेध
4. एक अंश के रहने पर दूसरे अंश का निषेध

इनके पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट ने भी दो भेदों का उल्लेख किया है[2]-

1. वक्ष्यमाण विषयक तथा
2. उक्त विषयक ।

परवर्ती काल में विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने अजितसेन के आधार पर चार भेदों का उल्लेख किया ।[3]

पर्यायोक्तः-

सर्वप्रथम इस अलंकार का निरूपण आचार्य भामह ने किया । इनके अनुसार जहाँ विवक्षितार्थ का कथन प्रकारान्तर से किया जाए वहाँ पर्यायोक्त अलंकार होता है ।[4]

आचार्य दण्डी ने इसे अधिक स्पष्ट किया है उनके मत में - जब इष्टार्थ का कथन किए बिना उसी अर्थ की सिद्धि हेतु प्रकारान्तर से कथन किया जाए तो पर्यायोक्त अलंकार होता है ।[5]

---

1. अ०चि० 4/247 एवं वृत्ति
2. का०प्र०, 10/106
3. (क) प्रताप० पृ० - 531
   (ख) सा०द०, 10/85
4. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । काव्या०, 3/38
5. का०द०, 2/225

उद्भट कृत परिभाषा भामह से अनुकृत है ।[1]

आचार्य वामन, रुद्रट व कुन्तक इस विषय में मौन है ।

मम्मट के अनुसार वाच्य-वाचक भाव के बिना ही किसी वस्तु का कथन करना पर्यायोक्त है । इसमें व्यंग्य के स्थान पर उक्ति वैचित्र्य ही प्रधान होती है ।[2]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ प्रस्तुत कार्य के वर्णन से प्रस्तुत कारण की प्रतीति हो, वहाँ पर्यायोक्त अलंकार होता है । व्यंग्य रूप से विवक्षित अर्थ का वाच्य रूप में प्रतिपादन पर्यायोक्त का प्राण है ।[3] इस प्रतिपादन के प्रकार अनेक हो सकते हैं । अतएव प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की प्रतीति मात्र में इसे परिसीमित कर देना उचित नहीं प्रतीत होता । प्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण के बोध वर्णन में रुय्यक, विद्यानाथ विश्वनाथ इस अलंकार की स्थिति स्वीकार करते हैं ।[4]

प्रतीपः-

आचार्य रुद्रट के अनुसार जहाँ उपमेय की अधिकता का प्रतिपादन समता दिखाकर उसकी प्रशंसा या निन्दा की जाए वहाँ प्रतीप अलंकार होता है।[5] परवर्ती काल में उपमान की प्रशंसा में प्रतीप अलंकार की स्थिति को मान्यता नहीं

---

1. काव्या0सा0सं0, 4/6
2. पर्यायोक्तं बिना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः । का0प्र0, 10/115
   वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं तत्पर्यायेण भंगयन्तरेण कथनात्पर्यायोक्तम् । वृत्ति
3. प्रस्तुतस्यैव कार्यस्य वर्णनात् प्रस्तुतंपुनः ।
   कारणं यत्र गम्येत् पर्यायोक्तं मतं यथा ।। अ0चि0 - 4/265
4. (क) अलंकारसर्वस्व पृ0 - 141-42
   (ख) प्रताप0 पृ0 - 541
   (ग) पर्यायोक्तं यदा भंगया गम्यमेवाभिधीयते ।। सा0द0, 10/60
5. रुद्रट0 काव्या0, 8/76

प्रदान की गयी ।

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ उपमेय के रहते हुए उपमान की व्यर्थता का प्रतिपादन किया जाए या उपमेय की उपेक्षा या उपमान का तिरस्कार किया जाए, वहाँ प्रतीप अलंकार होता है ।[1]

उपमान के अपकर्ष के व्यापार को प्रतीप के रूप में स्वीकार किया गया है -

"उपमानापकर्ष बोधानुकूलो व्यापारः प्रतीपम्" -
परमानन्दचक्रवर्ती, काव्यप्रकाश विस्तारिका
(-उद्धृत- चन्द्रालोक-सुधा, हिन्दीटीका पृ0 - 153)
ले0 सिद्धसेन दिवाकर ।

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ उपमान के अनादर्शधिक्य का प्रतिपादन किया जाए अथवा किम्, उत आदि तिरस्कार वाचक पदों के द्वारा उपमान की व्यर्थता सूचित की जाए वहाँ प्रतीप अलंकार होता है । इन्होंने इसके दो भेदों का उल्लेख किया है - (1) अलौकिक उपमेय से उपमान के आक्षेप में होने वाला प्रतीप तथा (2) उपमान की उपमेयत्व के रूप में कल्पना होने पर द्वितीय प्रतीप ।[2]

अजितसेन कृत परिभाषा मम्मट के निकट है । अन्य परवर्ती आचार्यों की परिभाषाओं में किसी नवीन तत्व की उपलब्धि नहीं होती । विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा पण्डित राज कृत परिभाषा अजितसेन के समान है ।[3] आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन ने इसका उल्लेख नहीं किया ।

---

1. का0प्र0, 10/133

2. आक्षिप्तिरूपमानस्य कैमर्थक्यान्निगद्यते ।
तस्योपनेयता यत्र तत्प्रतीपं द्विधायथा ।।
लोकोत्तरस्योपमेयस्योपमानाक्षेपो यत्र तदेकम् । यत्र चोपमानस्योपमे यत्व कल्पना तद्द्वितीयमिति प्रतीपं द्विधा ।
अ0चि0, 4/267 एवं वृत्ति

3. (क) आक्षेप उपमानस्यकैमर्थक्येन कथ्यते । यद्वोपमेयभावः स्यात् तत्प्रतीप-मुदाद्दतम् ।। (प्रताप0 पृ0-542)
(ख) सा0द0, 10/87
(ग) रसगंगाधर, पृ0 - 547

(6) तर्कन्यायमूलक अलंकार:-

अनुमान:-

आचार्य रूद्रट के अनुसार जहाँ कवि परोक्ष साध्य पदार्थ को पहले उपन्यस्त कर तत्पश्चात् साधन का उपन्यास करता है अथवा साधन का प्रतिपादन करने के पश्चात् साध्य वस्तु का निर्देश करता है तो वहाँ अनुमान अलंकार होता है ।[1] आचार्य भोज ने लिंग के द्वारा लिंगी के ज्ञान को अनुमान के रूप में स्वीकार किया है ।[2] जबकि मम्मट साध्य-साधन भाव के कथन में अनुमान को स्वीकारने के पक्ष में हैं ।[3]

आचार्य अजितसेन ने अनुमान के उदाहरण को ही प्रस्तुत किया है इसके लक्षण का उल्लेख नहीं किया ।[4]

आचार्य रूय्यकादि की परिभाषाएँ मम्मट के निकट है ।[5]

अनुमान प्रमाण के समान इस अलंकार में भी साधन से साध्य की अनुमिति की जाती है । चमत्कार होना आवश्यक है, अतएव 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' में अनुमान अलंकार नहीं हो सकेगा । साधन सर्वदा तृतीया या पंचमी या 'यत्, यस्मात्' आदि द्वारा द्योतित होगा । नैयायिको के अनुमान के समान चाहे यह तर्क संगत न भी हो, तो भी अलंकार होता है । यहाँ साधन सदैव सूचक होता है ।

---

1. काव्या0, 7/56
2. स0क0भ0, 3/47
3. का0प्र0, 10/117
4. अ0चि0, 4/271
5. (क) अ0स0, सू0 - 59
   (ख) चन्द्रा0, 5/36
   (ग) प्रताप0, पृ0 - 543
   (घ) सा0द0, 10/63
   (ङ) कुव0, 109
   (च) र0गं0, पृ0 - 640

काव्यलिंग:-

संस्कृत काव्यशास्त्र में 'काव्य हेतु' तथा काव्यलिंग नाम से इस अलंकार का निरूपण प्राप्त होता है । आचार्य उद्भट के अनुसार जब एक वस्तु का श्रवणकर वस्त्वन्तर का स्मरण या अनुभव किया जाए तो वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है ।[1] इसमें किसी पदार्थ का श्रवण किसी वस्तु के स्मरण अथवा अनुभव का कारण बन जाता है ।

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ वाक्य या पदार्थ का कथन हेतु के रूप में किया जाए वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है ।[2] आचार्य रुय्यक, विद्यानाथ, जयदेव, अप्पय दीक्षित तथा पं0 राज जगन्नाथ कृत परिभाषा मम्मट के समान है ।[3]

आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा मम्मट से प्रभावित है इनके अनुसार भी जहाँ वर्णनीय वस्तु के हेतु के विषय में किसी वाक्यार्थ या पदार्थ का उत्पादन किया जाए तो वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है ।[4]

अर्थान्तरन्यास:-

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ अर्थान्तर को प्रथम अर्थ से अनुगत मानते हुए दोनों के बीच सादृश्य सम्बन्ध की योजना की जाए वहाँ अर्थान्त-रन्यास अलंकार होता है । 'हि' शब्द के प्रयोग से अर्थान्तरन्यास अधिक स्पष्ट हो जाता है ।[5] ~~प्रस्तुत~~ आचार्य दण्डी के अनुसार जहाँ किसी वस्तु को प्रस्तुत करके उसके

---

1. काव्या0, सा0सं0, 6/7
2. काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता ।। — का0प्र0, 10/114
3. (क) हेतोर्वाक्यपदार्थता काव्यलिंगं ।। — अ0स0, सू0 - 58
   (ख) प्रताप0, पृ0 - 543
   (ग) स्यात काव्यलिंग वागर्थोनूतनार्थसमपर्क: ।। — चन्द्रा0, 5/38
   (घ) समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंग समर्थनम् ।। — कु0, - 121
   (ङ) र0गं0, पृ0 - 628
4. अ0चि0, 4/270
5. काव्या0, 2/71, 73

समर्थन में अन्य वस्तु का उल्लेख किया जाए, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ।[1]

आचार्य उद्भट का कथन है कि इसमें समर्थ्य-समर्थक भाव होता है। समर्थक वाक्य का उल्लेख पहले किया जाता है और समर्थ्य का बाद में । इन्होंने इसे अप्रस्तुत प्रशंसा तथा दृष्टान्त से भिन्न अलंकार स्वीकार किया है । उद्भट के अनुसार समर्थ्य - समर्थक भाव ही इस अलंकार का जीवातु है ।[2] आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाए वहाँ अर्थान्तर न्यास अलंकार होता है उन्होंने प्रत्येक के साधर्म्यगत तथा वैधर्म्यगत दो भेदों का उल्लेख किया है ।[3]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ सामान्य विशेष भाव या कार्यकारण भाव से प्रकृत का समर्थन किया जाए वहाँ अर्थान्तर न्यास अलंकार होता है ।[4]

आचार्य रूय्यक, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने अजितसेन की भाँति कार्यकारण भाव में भी इसकी सत्ता स्वीकार की है ।[5] आचार्य अजितसेन ने मम्मटानुमोदित साधर्म्य तथा वैधर्म्य का उल्लेख नहीं किया अंतः इनके अनुसार - (1) सामान्य से विशेष के समर्थन में, (2) विशेष से सामान्य के समर्थन में, (3) कार्य से कारण के समर्थन में और (4) कारण से कार्य के समर्थन में अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ।[6]

---

1. का0द0 - 2/169
2. काव्या0 सा0 सं0, 2/4-5
3. का0प्र0, 10/109
4. ससामान्यविशेषत्वात् कार्यकारणभावतः ।
   प्रकृतं यत्समर्थतार्थान्तर्न्यसनं मतम् ।। अ0चि0 4/274
5. (क) सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्ट प्रकृत समर्थन अर्थान्तरन्यासः । अ0स0सू0 - 36
   (ख) प्रताप0, पृ0 - 545
   (ग) सा0द0, 10/61
6. अ0चि0, पृ0 - 201

यथासंख्य:-

संस्कृत काव्यशास्त्र में इसके तीन नामों का उल्लेख प्राप्त होता है- यथासंख्य, संख्यान तथा क्रम । आचार्य भामह, उद्भट, रुद्रट, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित तथा पं० राज जगन्नाथ ने इसे यथासंख्य की अभिधा प्रदान की है । जबकि वामन और शोभाकर मित्र इसे क्रम नामक अलंकार से अभिहित करते हैं ।[1]

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ विभिन्न धर्मों वाले अनेक पूर्वकथित पदार्थों का इसी क्रम से निर्देश किया जाए वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है ।[2]

आचार्य दण्डी के अनुसार जहाँ प्रथम कथित पदार्थों का इसी क्रम से वर्णन किया जाए वहाँ यथासंख्य संख्यान अथवा क्रम नामक अलंकार होता है ।[3] भामह ने 'असधर्माणाम्' पद के द्वारा सिद्ध किया था कि क्रमशः अन्वित होने वाले पदार्थों में सामर्थ्य का अभाव होना चाहिए किन्तु आचार्य दण्डी ने इसकी चर्चा नहीं की ।

उद्भट कृत परिभाषा भामह से अनुकृत है ।[4]

वामन ने इसे यथासंख्य न कहकर 'क्रम' कहा है तथा उसमें उपमेय व उपमान के क्रमिक सम्बन्ध का होना आवश्यक बताया । इनकी परिभाषा परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य न हो सकी ।

रुद्रट के अनुसार जहाँ अनेक पदार्थ जिस क्रम से पूर्व निर्दिष्ट किये गए हों यदि क्रम से पुनः पूर्व के विशेष या विशेषण भाव को ग्रहण करते हुए उपनिबद्ध किए जाएँ तो वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है । इनके अनुसार पूर्वोदिष्ट पदार्थों का विशेषणों द्वारा कथन आवश्यक बताया गया है ।[5]

---

1. (क) उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः ।। काव्या०सू०, 4/3/17
   (ख) अ०र०, पृ० - 162
2. भा०काव्या, 2/88
3. का०द०, 2/273
4. काव्या० सा० सं०, 2/3
5. रु०, काव्या० 7/34, 35

आचार्य मम्मट के मत में जिस क्रम में जितनी संख्या में पदार्थों का प्रथमतः निर्देश हो उसी क्रम से उतनी ही संख्या में यदि पुनः पूर्व वर्णित पदार्थों के साथ सम्बन्ध बताया जाए तो वहाँ यथासंख्य नामक अलंकार होता है ।[1]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जिस क्रम से पहले अर्थों का निरूपण किया गया हो, पश्चात् कहे गये अर्थों का भी यदि उसी क्रम से प्रतिपादन किया जाए तो वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है ।[2]

आचार्य रूय्यक, विश्वनाथ तथा पं0 राज जगन्नाथ ने अजितसेन द्वारा निरूपित क्रम को स्वीकार कर लिया ।[3] इतना अवश्य है कि आचार्य रूय्यक ने इसे शाब्द एवं आर्थ दोनों स्थलों पर स्वीकार किया है । समास रहित पदों का समास रहित पदों के साथ सम्बन्ध रहने पर शाब्द यथासंख्य अलंकार होता है और अर्थ विश्लेषण के पश्चात् जहाँ सम्बन्ध का ज्ञान होता है वहाँ आर्थ यथासंख्य होता है ।

आचार्य अजितसेन ने परिभाषा में केवल अर्थों के क्रमिक अनुनिर्देश की ही चर्चा की है । इन्होंने इसके शाब्द भेद का उल्लेख नहीं किया । यथासंख्य के संदर्भ में रूय्यक तथा पं0 राज जगन्नाथ का मत युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि समास और असमास के आधार पर भेद तो संभव है किन्तु लक्षण नहीं । क्योंकि इसका चमत्कार क्रम से निर्दिष्ट पदार्थों के क्रमिक अन्वय में निहित है। अनुसन्धात्री के विचार से अजितसेन कृत परिभाषा सरल, स्पष्ट तथा वैज्ञानिक है।

---

1. यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।। — का0प्र0, 10/108

2. उदिष्टा यैः क्रमैरर्थाः पूर्वं पश्चाच्च तैः क्रमैः ।
   निरूप्यन्ते तु यत्रैतद् यथासंख्यमुदाहृतम् ।। — अ0चि0, 4/279

3. (क) अ0स0, पृ0 - 187
   (ख) सा0द0, 10/79
   (ग) रं0गं0, पृ0 - 643
   (घ) चन्द्रा0, 5/92
   (ङ) कुव0, 109

अर्थापत्तिः -

अर्थापत्ति का विकास भरत के 36 काव्य लक्षणों से हुआ है । इनके अनुसार जहाँ अर्थान्तर के कथन से वाक्य माधुर्य युक्त अन्यार्थ की प्रतीति हो वहाँ अर्थापत्ति अलंकार होता है ।[1] आचार्य भोज के अनुसार जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीत होने वाला अर्थ संगत न प्रतीत हो और उससे अर्थान्तर की प्रतीति हो तो वहाँ अर्थापत्ति अलंकार होता है ।[2]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ किसी अर्थ की निष्पत्ति में कैमुत्य न्याय से अन्यार्थ की प्राप्ति हो, वहाँ अर्थापत्ति अलंकार होता है । इसमें किम्, का, कः आदि सर्वनामों से (कैमुत्य न्याय से) अन्य तथ्य की प्रतीति होती है ।[3]

विद्यानाथ, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ भी अजितसेन की ही भाँति कैमुत्य न्याय से ही अर्थान्तर की प्रतीति होने पर अर्थापत्ति को स्वीकार करते हैं ।[4] जिस प्रकार से मूषक के दण्ड खा लेने से उसमें संलग्न माल-पूए को खा लेने की सहज कल्पना की जाती है उसी प्रकार से किसी अर्थ की उत्पत्ति से अन्य पदार्थ की प्रतीति अनायास ही हो जाती है । जैसे- 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' । वाक्य से रात्रि भोजन का ज्ञान अनायास ही हो जाता है अन्यथा स्थूलत्व संभव नहीं है । अतः रात्रि विषयक ज्ञान अर्थापत्ति के माध्यम से ही होता है

परिसंख्याः -

आचार्य भामह, दण्डी तथा उद्भट ने इसका उल्लेख नहीं किया । इसके उल्लेख का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य रुद्रट को है । आचार्य रुद्रट के अनुसार

---

1. अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्यार्थः प्रतीयते ।
   वाक्यमाधुर्यसंयुक्तं सार्थापत्तिरुदाहृताः ।। ना०शा०, 16/32
2. स०क०भ०, 3/52
3. यत्र कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तावन्यदापतेत् ।
   वस्तु कैमुत्यसंन्यायादर्थापत्तिरियं यथा ।। अ०चि०, 4/28।
4. (क) प्रताप०, पृ० - 548
   (ख) कुव०, 120
   (ग) र०गं०, पृ० - 656-57
5. (क) अ०सं०, पृ० - 196-198
   (ख) सा०द०, 10/83

जहाँ किसी वस्तु का गुण, क्रिया या जाति रूप से अन्य स्थानों पर विद्यमान रहने पर भी कहीं उसके अभाव का वर्णन हो तो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है । इसके दो भेदों का उल्लेख भी कया है ।[1] - (1) प्रश्नपूर्विका तथा (2) अप्रश्नपूर्विका।

आचार्य मम्मट ने रुद्रट के आधार पर परिसंख्या की परिभाषा प्रस्तुत की है । इनके अनुसार जहाँ पूंछी गयी या न पूँछी गयी वस्तु शब्दतः प्रतिपादित होकर अन्ततः अपने समान किसी अन्य वस्तु का जहाँ निषेध करें वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है ।[2]

काव्य प्रकाश के टीकाकार वामन झलकीकर के अनुसार परिसंख्या का अर्थ है - बुद्धि या विचारणा । वर्जन पूर्ण बुद्धि को परिसंख्या के रूप में स्वीकार किया गया है ।[3]

परिसंख्या अलंकार के चार भेद संभव हैं -

(1) प्रश्न कर शब्द द्वारा जहाँ निषेध किया जाए ।
(2) प्रश्न कर निषेध की व्यंजना करायी जाए ।
(3) बिना प्रश्न के शब्द द्वारा जहाँ निषेध किया जाए तथा
(4) बिना प्रश्न के निषेध की व्यंजना करायी जाए ।

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ एक वस्तु की अनेकत्र स्थिति रहने पर भी अन्यत्र निषिद्ध कर एक ही अर्थ में नियमित कर दिया जाए, वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है । इन्होंने इसके - प्रश्न पूर्वक तथा अप्रश्न पूर्वक - दो भेदों का उल्लेख भी किया है पुनः प्रत्येक के शाब्दवर्ज्य (शाब्दी) तथा आर्थवर्ज्य - भेद भी किए हैं । उक्त चार भेदों के अतिरिक्त चारुत्वातिशय रूप श्लेषजन्य परिसंख्या का भी उल्लेख किया है । सम्पूर्ण भेदों को मिलाकर इन्होंने परिसंख्या के पांच भेदों का उल्लेख किया है -[4]

---

1. रु0, काव्या0, 7/79
2. का0प्र0, 10/112
3. वामन झलकीकर टीका, पृ0 - 703
4. सर्वत्र संभवद्वस्तु यत्रैकं युगपत्पुनः ।
   एकत्रैव नियम्येत परिसंख्या तुसा यथा ।।
   सा द्विधा-प्रश्नाप्रश्नपूर्वकत्वभेदात् । तद्द्वयमपि द्विधा-वर्ज्यस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्याम् । अ0चि0, 4/284 एवं वृत्ति ।

(1) प्रश्नपूर्वक शाब्दवर्ज्य परिसंख्या
(2) प्रश्नपूर्वक आर्थवर्ज्य परिसंख्या
(3) अप्रश्नपूर्वक शाब्दवर्ज्य परिसंख्या
(4) अप्रश्न पूर्वक आर्थवर्ज्य परिसंख्या
(5) श्लेषजन्य परिसंख्या

परवर्ती काल में आचार्य रूय्यक विद्यानाथ ने भी अजितसेन द्वारा निरूपित सभी भेदों को स्वीकार कर लिया है ।[1] पण्डित राज जगन्नाथ ने भी आदि के चार भेदों का निरूपण किया है । किन्तु इन्होंने शुद्धा शाब्दी तथा शुद्धा आर्थी, प्रश्न पूर्विका तथा अप्रश्न पूर्विका का उल्लेख किया है ।[2]

उक्त विवेचन के अवलोकन से विदित होता है कि आचार्य रूय्यक तथा विद्यानाथ ने परिसंख्या के पाँचों भेदों को स्वीकार करके अजितसेन की भेद निरूपण सरणि को स्वीकार करके अलंकार श्रृंखला में वृद्धि की ।

उत्तर:-

आचार्य रुद्रट के अनुसार जहाँ उत्तर वचन श्रवण से उत्तर की प्रतीति हो, वहाँ उत्तर अलंकार होता है । इसके अतिरिक्त इन्होंने एक अन्य उत्तर का भी उल्लेख किया है जहाँ इन्होंने यह बताया है कि ज्ञात (प्रसिद्ध उपमान) से भिन्न वस्तु उपमेय के पूछे जाने पर उपमान के सदृश वस्तु का जहाँ कथन किया जाए वहाँ उत्तर अलंकार होता है ।[3]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ उत्तर के श्रवण मात्र से प्रश्नोन्नयन हो अथवा प्रश्न के अनेक असंभाव्य उत्तर दिए जाएं, वहाँ उत्तरालंकार होता है। इनकी परिभाषा पर रुद्रट की प्रथम परिभाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है ।[4]

---

1. (क) अ0स0, पृ0 - 193-95
   (ख) प्रताप0 पृ0 - 550
2. र0गं0, पृ0 - 653
3. रु0, काव्या0, 7/93
4. का0प्र0, 10/121

आचार्य अजितसेन ने रुद्रट और मम्मट के लक्षण का समन्वय प्रस्तुत किया है । इनके अनुसार जहाँ प्रश्न और उत्तर दोनों का निबन्धन हो अथवा उत्तर से ही प्रश्न की कल्पना की जाए वहाँ उत्तरालंकार होता है । इस प्रकार से इन्होंने प्रश्नोत्तर के दो भेदों का उल्लेख किया है ।[1]

विद्यानाथ कृत परिभाषा अजितसेन के समान है ।[2] परवर्ती आचार्यों में जयदेव, दीक्षित तथा पं0 राज जगन्नाथ की परिभाषायें प्रायः अजितसेन के समान ही है ।[3]

(7) वाक्यन्यायमूलक अलंकारः-

विकल्पः-

इस अलंकार की उद्भावना का श्रेय आचार्य रुय्यक को है । इनके अनुसार जहाँ दो वस्तुओं में तुल्य बल विरोध होने पर एक को ही स्वीकार किया जाए वहाँ विकल्पालंकार होता है ।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ सम प्रमाण वाले दो पदार्थों में औपम्यादि की प्रतीति एक ही साथ होने पर विरोध प्रतीत हो, वहाँ विकल्पालंकार होता है। इन्होंने अपनी परिभाषा में औपम्यादि का उल्लेख करके एक नया विचार व्यक्त किया है ।[5]

आचार्य शोभाकरमित्र तुल्य बल विरोध होने पर पाक्षिक वस्तु के ग्रहण को विकल्पालंकार के रूप में स्वीकार किया है ।[6] आचार्य विद्यानाथ, विद्याधर,

---

1. प्रश्नोत्तरे निबध्येते बहुधा चोत्तरादपि ।
   प्रश्न उन्नीयते यत्र सोत्तरालङ्क्रिया द्विधा ।। अ0चि0, 4/290 एवं वृत्ति
2. प्रताप0 पृ0 - 552
3. (क) चन्द्रा0, 5/108
   (ख) कुव0, 149, 50
   (ग) र0गं0, पृ0 - 700
4. अ0स0, पृ0 - 200 विमर्शिनी
5. विरोधे तु द्वयोर्यत्र तुल्यमानविशिष्टयोः ।
   औपम्याद्युगपत्प्राप्तौ विकल्पालंकृतिर्यथा ।। अ0चि0, 4/293
6. विरुद्धयोस्तुल्यत्वे पाक्षिकत्वं विकल्पः ।। अ0र0, 88

जयदेव एवं पण्डित राज जगन्नाथ कृत परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[1]

समुच्चयः-

आचार्य रुद्रट के अनुसार यदि एक ही आधार में द्रव्य, गुण, क्रिया रूप अनेक वस्तुओं का सुखावह अथवा दुःखावह वर्णन हो तो वहाँ समुच्चय अलंकार होता है ।[2] सुख-दुःख परक अनेक द्रव्यादि रूप वस्तुओं का जहाँ वर्णन होगा, वहाँ दूसरा समुच्चय होगा । दूसरे समुच्चय के तीन प्रकार है -

(1) सद्योग (2) असद्योग, (3) सदसद्योग

भिन्न आधार वाले गुण या क्रिया जब एक स्थान पर समान काल में वर्णित हों, तो वहाँ तृतीय समुच्चय होता है ।

आचार्य मम्मट के अनुसार समुच्चय अलंकार में प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के लिए एक साधक या कर्त्ता के होते हुए भी अन्य कारण की साधकता का भी वर्णन किया जाता है ।[3]

अजितसेन के अनुसार जिसमें क्रिया तथा अम्लत्व आदि गुणों का साथ-साथ वर्णन हो वहाँ समुच्चय अलंकार होता है । समुच्चय अलंकार में दो क्रियाओं का अथवा दो गुणों का एक ही साथ वर्णित होना आवश्यक है । एक ही कार्य को सिद्ध करने के लिए जहाँ अनेक कारणों की उपस्थिति अहमहमिकया रूप से हो वहाँ समुच्चय अलंकार होता है ।[4]

---

1. (क) प्रताप0, पृ0 - 554
   (ख) एकावली, 8/57
   (ग) चन्द्रा0, 5/96
   (घ) र0गं0, पृ0 - 657
   (ङ) सा0द0, 10/83
   (च) कुव0, 114
2. रु0, काव्या0, 7/19-27
3. तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत् समुच्चयोसौ ।
   का0प्र0, 10/116
4. क्रियाणां चामलत्वादिगुणानां युगपत्ततः ।
   अवस्थानं भवेद् यत्र सोऽलंकारः समुच्चयः ।। अ0चि0, 4/295

इस प्रकार से आचार्य अजितसेन के लक्षण में समुच्चय के तीन भेद किए जा सकते हैं -

(1) क्रिया समुच्चय, (2) गुण समुच्चय, (3) किसी एक कार्य को सिद्ध करने में अनेक कारणों की उपस्थिति में होने वाला-कारण समुच्चय ।

आचार्य विद्यानाथ कृत आदि के दो भेद अजितसेन से प्रभावित हैं और कारण समुच्चय रूप तृतीय भेद में इन्होंने खलेकपोतन्याय का भी उल्लेख किया है । जिसका उल्लेख अजितसेन कृत परिभाषा में नहीं है । तथापि अहमहमिकया पद के भाव से प्रेरित होकर ही विद्यानाथ ने खलेकपोतन्याय का उल्लेख किया।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने भी अजितसेन कृत सभी भेदों को स्वीकार कर लिया है ।[2]

समाधि: -

आचार्य भामह ने इसके उदाहरण को ही प्रस्तुत किया है जिससे विदित होता है कि आरम्भ किए गए कार्य में यदि कहीं से सहायता प्राप्त हो जाए, तो वहाँ समाधि अलंकार होता है ।[3]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ कारणान्तर के संयोग से कार्य सुकर हो जाए, वहाँ समाधि नामक अलंकार होता है ।[4]

परवर्ती आचार्यों की परिभाषाएं मम्मट से प्रभावित हैं ।[5]

आचार्य अजितसेन ने बताया कि जहाँ कार्य सिद्धि के लिए एक हेतु प्रवृत्त हो और अचानक उस कार्य को सुन्दर ढंग से प्रतिपादित करने के लिए

---

1. प्रताप0, पृ0 - 555
2. सा0द0, 10/84-85
3. भा0, काव्या0, 3/10
4. समाधिः सुकरं कार्यकारणान्तरयोगतः ।। का0प्र0, 10/125
5. (क) चन्द्रा0, सू0 - 95
   (ख) र0गं0, पृ0 - 664

दूसरा हेतु भी उपस्थित हो जाए तो वहाँ समाधि अलंकार होता है । आचार्य अजितसेन का कथन है कि कार्य सिद्धि में एक कारण के प्रवृत्त होने पर काकतालीय न्याय से जहाँ अन्य कारण की प्रवृत्ति हो और कार्य सुन्दर ढंग से प्रतिपादित हो जाए, वहाँ समाधि नामक अलंकार होता है ।[1]

परवर्ती काल में रूय्यक तथा अप्पय दीक्षित ने भी अजितसेन की ही भाँति काकतालीय न्याय से कारणान्तर के आगमन की चर्चा की है जो कार्य को सुन्दर ढंग से प्रतिपादित करने में समर्थ हो जाता है ।[2]

(8) लोकन्यायमूलक अलंकार:-

भाविक:-

इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य भामह ने किया । इनके अनुसार भाविकत्व को प्रबन्ध - विषयक गुण कहा गया है । जिसमें भूत एवं भावी पदार्थों का प्रत्यक्षतः अवलोकन किया जाता है । अर्थ की विचित्रता, उदात्तता, कथा की अभिनेयता,अद्भुतता और शब्दों की अनुकूलता इसके हेतु बताए गये हैं।[3]

आचार्य दण्डी ने भाव का अर्थ कवि के अभिप्राय से लिया है जो सम्पूर्ण काव्य में विद्यमान रहता है । इसीलिए भामह की भाँति इन्होंने भाविक को प्रबन्ध विषयक गुण ही कहा है ।[4]

रूद्रट, वामन तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने इसकी चर्चा नहीं की है ।

टीकाकार वामन झलकीकर के अनुसार अतीत तथा अनागत पदार्थों का

---

1. कार्यसिद्ध्यर्थमेकस्मिन् हेतौ यत्र प्रवृत्ति के ।
   काकतालीयवृत्तोऽस्य समाधिस्त्दितो यथा ।। अ0चि0 4/301
2. (क) कारणान्तरयोगात्कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः । अ0स0, सू0 68
   (ख) समाधिः कार्यसौकार्यं कारणान्तर सन्निधेः । कुव0, 118
3. काव्यालंकार, 3/53-54
4. काव्यादर्श, 2/364-366

प्रत्यक्षवत् प्रतिपादन करना भाविक अलंकार है । जिस प्रकार से योगीजन भूत तथा भविष्यकालीन सम्पूर्ण विषयों का साक्षात्कार कर लेते हैं ठीक वैसे ही कवि भी भूत तथा भविष्य की बातों को वर्तमान समझते हैं ।[1]

उद्भट ने सर्वप्रथम भाविक को काव्यालंकार की संज्ञा दी । उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसे प्रबन्ध, नाटक अथवा आख्यायिका का अलंकार माना है । उद्भट ने भामह द्वारा स्वीकृत भाविक के निष्पादक तत्वों में से केवल 'अद्भुतता' एवं 'वाचामनाकुल्य' को ही स्वीकार किया । इनके अनुसार भूत या भावी आश्चर्यजनक वस्तुएँ जहाँ सुबोध शब्दों में प्रत्यक्ष की भाँति वर्णित हो वहाँ भाविक अलंकार होता है ।[2]

परवर्ती आचार्यों की परिभाषाएँ भामह से प्रभावित हैं ।[3]

अजितसेन की परिभाषा भी उद्भट से भिन्न नहीं कही जा सकती क्योंकि इन्होंने भी अतीत व अनागत वस्तुओं के प्रत्यक्षवत् वर्णन को भाविक अलंकार के रूप से स्वीकार किया है । मानव चित्त को भावित करने के कारण ही इस अलंकार को भाविक के रूप में स्वीकार किया गया है ।[4]

प्रेयस्:-

आचार्य भामह ने प्रेय अलंकार का लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किया है ।[5] आचार्य दण्डी ने प्रियतर आख्यान को प्रेय की अभिधा प्रदान की है ।[6] उद्भट की परिभाषा भामह व दण्डी से भिन्न है । इनके

---

1. बा0बो0 टीका पृ0 - 767

2. प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः ।
अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम् ।। काव्या0सा0सं0, 6/6

3. (क) का0प्र0, 10/114
(ख) चन्द्रा0, 5/113
(ग) सा0द0, 10/93, कुव0, 161
(घ) अ0र0, सू0 107

4. यत्रात्यद्भुतचारित्रवर्णनाद् भूतभाविनोः ।
प्रत्यक्षायितता प्रोक्ता वस्तुनोभाविकं यथा ।। अ0चि0, 4/303 एवं वृत्ति

5. भा0, काव्या0, 3/5

6. प्रेयोप्रियतराख्यानम् । का0द0, 2/275

अनुसार जहाँ अनुभावादि के द्वारा रत्यादि भावों की सूचना दी जाए वहाँ प्रेय अलंकार होता है ।[1]

आचार्य अजितसेन के अनुसार अत्यन्त अभिमत वस्तु के कथन में प्रेयस् अलंकार होता है । इनकी परिभाषा आचार्य दण्डी के समान है ।[2] आचार्य रुय्यक प्रियतर आख्यान के गुम्फन में प्रेय अलंकार स्वीकार किया है[3] जबकि शोभाकर मित्र रसादि की अंगता में, जयदेव विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, भट्टदेव शंकर पुरोहित तथा विश्वेश्वर पर्वतीय आदि भाव की परांगता में - इसकी स्थिति स्वीकार किया है ।[4]

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि प्रेय अलंकार के सम्बन्ध में विद्वानों की दो धाराएँ है । प्रथम धारणा उन आचार्यों की है जो प्रियतर आख्यान में प्रेय अलंकार को स्वीकार करते हैं - इन आचार्यों में भामह, दण्डी, उद्भट तथा अजितसेन हैं । द्वितीय धारणा उन आचार्यों की है जो भाव की परांगता में इसकी सत्ता स्वीकार करते हैं । इस परम्परा के प्रमुख आचार्य जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि हैं ।

रसवत्:-

इस अलंकार की उद्भावना आचार्य भामह ने की है । इनके अनुसार जिसमें शृंगारादि रसों की प्रतीति हो वहाँ रसवत् अलंकार होता है । अलंकारवादी आचार्य होने के कारण इन्होंने रसों का अन्तर्भाव रसवत् अलंकार में कर दिया है ।[5]

---

1. रत्यादिकानां भावानां अनुभावादि सूचनैः ।
   यत्काव्यं बध्यते सद्भिः तत् प्रेयस्वदुदाहृतम् ।। काव्या0सा0सं0, 4/2
2. यत्रेष्टतरवस्तूक्तिः सा प्रेयोऽलंकृतिर्यथा । अ0चि0, 4/306
3. अ0स0, सूत्र 83
4. (क) अ0र0, 109 तथा वृत्ति
   (ख) चन्द्रा0, 5/117
   (ग) सा0द0, 10/96
   (घ) कुव0, 170
   (ङ) अ0मं0, पृ0 - 227
   (छ) कुव0, 170
   (च) अ0प्र0, 116
5. रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादि रसं यथा । काव्या0 3/6

आचार्य दण्डी ने रत्यादि से रमणीय आख्यान को रसवत् कहा है ।[1] शिला मेघसेन कृत परिभाषा दण्डी अनुकृत है ।[2] आचार्य उद्भट ने भामह की ही शब्दावली का प्रयोग किया है ।[3] आचार्य कुन्तक को रसवत् की अलंकारता अभीष्ट नहीं है ।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जिसमें श्रृंगारादि रस की विशेष पुष्टि का वर्णन हो उसे रसवत् अलंकार कहा गया है ।[5] इनकी परिभाषा पर भामह का स्पष्ट प्रभाव है । रूय्यक की परिभाषा भामह से प्रभावित है ।[6] शोभाकर मित्र, जयदेव, अप्पय दीक्षित, भट्टदेव शंकर पुरोहित ने रसों का रसादि के प्रति अंगता में रसवत् अलंकार स्वीकार किया है ।[7]

ऊर्जस्वी:-

आचार्य भामह ने इसका उदाहरण मात्र ही प्रस्तुत किया है किन्तु उदाहरण के अवलोकन से विदित होता है कि इन्हें गर्वोक्ति में ऊर्जस्वी अलंकार अभीष्ट है ।[8] आचार्य दण्डी तथा अमृतानन्दयोगी शिलामेघसेन ने रूढ़ाहंकार को ऊर्जस्वी अलंकार के रूप में स्वीकार किया है ।[9] आचार्य उद्भट के अनुसार जहाँ काम क्रोधादि के कारण भावों[10] तथा रसों का अनुचित प्रयोग हो वहाँ

---

1. रसवद्रसेपशलम् । का0द0, 2/275
2. बौद्धा0 भाग 2, 272
3. काव्या0सा0सं0, - 4/3
4. अलंकारों न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् । व0जी0, 3/11
5. श्रृंगारादिरसोत्पुष्टिर्यत्र तद्रसवद् यथा । अ0चि0, 4/306
6. अ0स0, 83
7. (क) अ0र0, 109
   (ख) चन्द्रा0, 5/117
   (ग) कुव0, 170
   (घ) अ0मं0, पृ0 - 226-27
8. ऊर्जस्वि कर्णेन यथापार्थाय पुनरागतः ।
   द्विः सन्दधाति किं करणः शल्येत्यहि अपाकृत. ।। काव्या0, 3/7
9. (क) का0द0, 2/275
   (ख) अ0सं0, 37 उत्तरार्ध
   (ग) बौद्धा0 भाग-2, 272
10. काव्या0 सा0सं0, 4/5

ऊर्जस्वी अलंकार होता है ।[1] कुन्तक को ऊर्जस्वी अलंकार स्वीकार नहीं है।[2]

आचार्य अजितसेन ने आत्मश्लाघा में ऊर्जस्वी अलंकार को स्वीकार किया है ।[3] इस प्रकार अजितसेन तक ऊर्जस्वी अलंकार की समीक्षा करने से विदित होता है कि गर्वोक्ति, रूढ़ाहंकार तथा आत्मश्लाघा में ऊर्जस्वी अलंकार होता है । रूय्यक कृत परिभाषा आचार्य दण्डी से प्रभावित है ।[4] शोभाकर मित्र रत्यादि की अंगता में इसे स्वीकार करते हैं ।[5] आचार्य जयदेव, विश्वनाथ, दीक्षित तथा भट्टदेव शंकर पुरोहित, रसाभास तथा भावाभास में इसकी सत्ता स्वीकार करते हैं ।[6] इस प्रकार अजितसेन के पश्चात् इसके लक्षण में अत्यधिक अन्तर आ गया । रत्यादि की अंगता, रस तथा भावों के अनुचित प्रयोग में ऊर्जस्वी अलंकार को मान्यता प्राप्त हुई ।

प्रत्यनीक:-

आचार्य रूद्रट के अनुसार जहाँ उपमेय को उत्कृष्ट बनाने के लिए उपमेय को जीतने की इच्छा से जहाँ विरोधी उपमान की कल्पना की जाती है वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है ।[7]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ प्रतिपक्षी का उपकार करने में असमर्थ व्यक्ति उसके किसी सम्बन्धी का तिरस्कार करे, वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है । मम्मट की यह परिभाषा रूद्रट से भिन्न है ।[8]

---

1. काव्या०सा०सं०, 4/5
2. व०जी०, 3/12
3. यत्रात्मश्लाघनारोहो यथा सोर्जस्वलंक्रिया । अ०चि०, 4/209
4. अ०स०, सू० - 83
5. अ०र०, सूत्र 109
6. (क) रसभाव तदाभास भावशान्ति निबन्धनात् ।
   रसवत्प्रेयऊर्जस्वि समाहितमथाभिधा ।। चन्द्रा० 5/117
   (ख) सा०द०, 10/96
   (ग) कुव० 170
   (घ) अ०मं० पृ० - 226-28
7. काव्या०, 8/92
8. का०प्र०, 10/129

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ शत्रु के वध में असमर्थ रहने पर शत्रु के संगी को दोष दिया जाए, वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है ।[1] इस अलंकार में जब कोई व्यक्ति समर्थ प्रतिपक्ष का निराकरण करने में असमर्थ हो जाता है तो तत्सम्बन्धी किसी अन्य व्यक्ति का निराकरण करे तो वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है ।

परवर्ती आचार्यो की परिभाषाएँ मम्मट तथा अजितसेन के समान है ।[2]

व्याघातः -

व्याघात अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य रुद्रट ने किया । इनके अनुसार जहाँ दूसरे कारणों के विरोधी न होते हुए भी, 'कारण' कार्य का जनक नहीं होता वहाँ व्याघात अलंकार होता है ।[3]

मम्मट के अनुसार जब किसी व्यक्ति के द्वारा जिस प्रयत्न से किसी कार्य को सिद्ध किया जाता है, उसी प्रयत्न से यदि कोई दूसरा व्यक्ति उस कार्य को उसके विपरीत कर दे, तो वहाँ व्याघात अलंकार होता है ।[4]

रुय्यक ने एक अन्य प्रकार के व्याघात की चर्चा की है इनके अनुसार सुकर्ता के साथ यदि कार्य के विपरीत क्रिया हो तो वहाँ भी व्याघात अलंकार होता है । इनकी परिभाषा मम्मट से प्रभावित है ।[5]

आचार्य अजितसेन के अनुसार - जो वस्तु जिस किसी कर्ता के द्वारा

---

1. प्रत्यनीकं रिपुध्वंसाशक्तौ तत्संगिदूषणम् ।। अ०चि०, 4/309
2. (क) प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः ।। चन्द्रा० 5/99
   (ख) तत्सम्बन्धित्वं च सादृश्यादिसम्बन्धमूलम् । विम०, पृ० 206
   (ग) प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः । कुव०, 119
   (घ) प्रतिपक्षसम्बन्धिनतिरस्कृतिः प्रत्यनीकम् । र०गं०, पृ० - 665
3. रु०, काव्या०, 9/52
4. यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा । तथैव यद्विधीयेत् स व्याघात इति स्मृतः ।। का०प्र०, 10/138, 139
5. यथासाधितस्य तथैवान्येनान्यथाकरणं व्याघातः । अ०स०, पृ० - 173

जिस साधन से सिद्ध की गयी हो, वही वस्तु किसी दूसरे कर्ता के द्वारा उसी साधन से विपरीत बना दी जाये, तो वहाँ व्याघात अलंकार होता है ।[1]

आचार्य विद्यानाथ, शोभाकर मित्र, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज कृत परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[2]

पर्यायः -

इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य रूद्रट ने किया है । इनके अनुसार जहाँ एक वस्तु की अनेकत्र तथा अनेक वस्तु की एकत्र स्थिति का प्रतिपादन किया जाए वहाँ पर्याय अलंकार होता है ।[3] आचार्य भोजकृत परिभाषा रूद्रट से भिन्न है इनके अनुसार जहाँ मिष, भंगी तथा अवसर की निराकांक्ष तथा साकांक्ष उक्ति हो, वहाँ पर्याय अलंकार होता है ।[4] आचार्य मम्मट कृत परिभाषा रूद्रट से प्रभावित है । मम्मट के अनुसार भी जहाँ एक वस्तु की अनेकत्र तथा अनेक वस्तु की एकत्र स्थिति मानी जाए वहाँ पर्याय अलंकार होता है ।[5]

आचार्य अजितसने कृत परिभाषा को भी रुद्रट से भिन्न नहीं कहा जा सकता । इनके अनुसार जहाँ एक में अनेक तथा अनेक में एक आधेय का वर्णन हो वहाँ पर्याय अलंकार होता है । उक्त कारिका में क्रमेण पद के द्वारा समुच्चयालंकार की तथा विशेषालंकार की व्यावृत्ति हो जाती है ।[6] इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने समुच्चय एवं विशेषालंकार की व्यावृत्ति विषयक चर्चा नहीं की है ।

---

1. अ0चि0, 4/312
2. (क) प्रताप0 पृ0 - 564
   (ख) उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघातः । अ0र0, पृ0 - 113
   (ग) कुव0, 102-103
   (घ) र0गं0, पृ0 - 617-618
3. रू0, काव्या0, 7/44
4. स0क0भ0, 4/80
5. एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः । का0प्र0, 10/117, द्र0वृत्ति ।
6. क्रमेणानेकमेकस्मिन्नेकं वा यदि वर्तते ।
   अनेकस्मिन् यदाधेयंपर्यायः सद्विधा यथा ।। अ0चि0, 4/314

आचार्य रूय्यक, शोभाकर मित्र, दीक्षित तथा पण्डितराज कृत परिभाषा अजितसेन के समान है ।[1]

सूक्ष्मः -

आचार्य भामह हेतु सूक्ष्म तथा लेश को अलंकार मानने के पक्ष में नहीं हैं । इस सन्दर्भ में भामह का कथन है कि इन अलंकारों में वक्रोक्तिका अभाव रहता है अतः इन अलंकार की कोटि में स्वीकार करना उचित नहीं है ।[2]

आचार्य दण्डी ने इंगित और आकार से लक्षित अर्थ को सूक्ष्म अलंकार के रूप में स्वीकार किया है तथा इसे वाणी का उत्तम आभूषण भी बताया है ।[3] आचार्य मम्मट के अनुसार कहीं से लक्षित सूक्ष्म अर्थ यदि अन्य व्यक्ति पर प्रकट कर दिया जाए तो वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है ।[4] आचार्य अजितसेन ने मम्मट के लक्षण के आधार पर सूक्ष्म को परिभाषित किया है इनके अनुसार जहाँ आकार एवं चेष्टा से पहचाना हुआ सूक्ष्म पदार्थ किसी चातुर्यपूर्ण संकेत से सहृदयवेद्य बनाया जाए तो वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है ।[5] विद्यानाथ, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित कृत परिभाषा अजितसेन के समान है ।[6]

---

1. (क) अ0स0, सू0 - 61
   (ख) अ0र0,
   (ग) कुव0, 110
   (घ) र0गं0, पृ0 - 645
   (ङ) चन्द्रा, 5/93
2. भा0काव्या0, 2/83
3. हेतुश्चसूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।
   इंगिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मइति स्मृतः ।। का0द0, 2/235
4. का0प्र0, 10/122
5. कायाकारेंगिताभ्यां हि सा सूक्ष्मालंकृतिर्यथा ।
   सुभद्रा नवसंसर्गे प्रिये क्षुतवति द्रुतम् ।। अ0चि0, 4/317
6. (क) असंलक्षितसूक्ष्मार्थ प्रकाशः सूक्ष्म उच्यते । प्रताप0 पृ0 - 566
   (ख) सा0द0, 10/91
   (ग) कुव0 151

उदात्तः-

आचार्य भामह के अनुसार जहाँ चरित्र की महत्ता या सम्पत्ति की संवृद्धि का वर्णन किया जाए वहाँ उदात्त अलंकार होता है ।[1] आचार्य दण्डी ने भी आशय तथा सम्पत्ति के वर्णन में उदात्त अलंकार को स्वीकार किया है ।[2] उद्भट कृत परिभाषा भामह से प्रभावित है ।[3] आचार्य मम्मट - महापुरूषों के चरित्र वर्णन में तथा वस्तु - सम्पत्ति के वर्णन में उदात्त अलंकार को स्वीकार करते हैं ।[4] आचार्य रुय्यक, शोभाकर मित्र, जयदेव तथा अप्पय दीक्षित कृत परिभाषाएँ समान हैं ।[5] जबकि आचार्य अजितसेन, महासंवृद्धि के वर्णन में ही उदात्त अलंकार को स्वीकार किया है । यह सम्वृद्धि चारित्रिक भी हो सकती है क्योंकि उनके द्वारा प्रदत्त उदाहरण में चारित्रिक सम्वृद्धि तथा धन सम्वृद्धि दोनों का ही प्रतिपादन किया गया है । इससे विदित होता है कि इन्हें भी संवृद्धि वर्णन तथा चरित्र वर्णन में उदात्त अलंकार अभीष्ट है ।[6] विद्यानाथ कृत परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[7]

---

1. काव्या0, 3/11-12
2. का0द0, 2/300
3. काव्या0 सा0सं0, 4/8
4. का0प्र0, 10/115
5. (क) समृद्धि वस्तुवर्णनमुदात्तम् ।। अ0स0, सूत्र - 81
   (ख) उदारचरितांगत्वमुदात्तम् ।। अ0र0, सू0 - 108
   (ग) उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ।। चन्द्रा0, 5/115
   (घ) उदात्तमृद्धिश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ।। कुव0 सू0 162
6. महासमृद्धिरम्याणा वस्तूनां यत्र वर्णनम् ।
   विधीयते च तत्र स्यादुदात्तालंक्रिया यथा ।। अ0चि0, 4/319
7. तदुदात्तं भवेद्यत्र समृद्धं वस्तु वर्ण्यते । प्रताप0 पृ0 - 567

परिवृत्तिः-

इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख भामह ने किया इनके अनुसार अन्य वस्तु के त्याग द्वारा अन्य विशिष्ट वस्तु का आदान करना ही परिवृत्ति है इन्होंने इसे अर्थान्तरन्यास से अनुप्राणित भी बताया है ।[1] उद्भट ने सम, न्यून, विशिष्ट तथा अर्थानर्थ में इसकी सत्ता स्वीकार की है ।[2] आचार्य वामन ने सामान्य या असामान्य अर्थों द्वारा अर्थों के परिवर्तन को परिवृत्ति कहा है ।[3] आचार्य रूद्रट ने केवल दान-आदान में परिवृत्ति को स्वीकार किया है ।[4]

आचार्य मम्मट, रूय्यक तथा शोभाकर मित्र कृत परिभाषा उद्भट से प्रभावित है ।[5]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ समान वस्तु से असमान वस्तु का विनिमय हो वहाँ परिवृत्ति नामक अलंकार होता है । इन्होंने (1) सम परिवृत्ति, (2) न्यून परिवृत्ति तथा (3) अधिक परिवृत्ति का भी उल्लेख किया है ।[6]

परवर्ती काल में विद्यानाथ, विश्वनाथ, जयदेव तथा अप्पय दीक्षित ने अजितसेन कृत भेदों को सादर स्वीकार कर लिया ।[7]

---

1. भा0काव्या0, 3/41
2. काव्या0सा0सं0, 5/16
3. समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः । काव्यां0सू0, 4/3/16
4. रू0, काव्या0, 7/77
5. (क) परिवृत्तिर्विनियगो योऽर्थानां स्यात्त्यगासमैः ।। का0प्र0, 10/13
   (ख) अ0स0, सू0 62
   (ग) अ0र0, सू0 90
6. भवेद्विनिमयोयत्र समेनासमतः सह ।
   समन्यूनाधिकानांस्यात् परिवृत्तिस्त्रिधा यथा ।। अ0चि0 4/321
7. (क) प्रताप0, प0 - 569
   (ख) परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् । सा0द0, 10/80
   (ग) परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः ।। चन्द्रा0, 5/94
   (घ) परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः । कुव0, 112

{9} श्रृंखलान्यायमूलक अलंकारः-

कारणमालाः-

आचार्य भामह, वामन तथा उद्भट ने इसका उल्लेख नहीं किया । प्रथमतः रुद्रट ने इसका निर्वचन वास्तव वर्ग के अलंकारों में किया है । प्रथम-प्रथम पदार्थ से उत्तर-उत्तर पदार्थ उत्पन्न होते हैं । अतः परवर्ती पदार्थों के प्रति पूर्व- पूर्ववर्ती पदार्थ कारण होने के कारण इस अलंकार को कारणमाला की अभिधा प्रदान की गयी है ।[1]

आचार्य मम्मट ने भी रुद्रट का अनुसरण किया है ।[2] आचार्य शोभाकर मित्र उत्तर-उत्तर पदार्थ को भी पूर्व-पूर्व पदार्थ के प्रति कारण बताया है[3] तथा इसे शृंखला अलंकार के रूप में निरूपित किया है । रुद्रट मम्मट तथा सर्वस्वकार ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया । अप्पय दीक्षित ने रत्नाकरकार के विचारों का अनुमोदन किया है ।[4]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ पूर्व-पूर्व वर्णित पदार्थ उत्तरोत्तर वर्णित पदार्थों के कारण रूप में वर्णित हो वहाँ कारण माला अलंकार होता है ।[5] इनकी परिभाषा पर रुद्रट, मम्मट तथा रुय्यक का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।

विद्यानाथ कृत परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[6]

एकावलीः-

आचार्य रुद्रट ने अर्थों की परम्परा को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट किए जाने

---

1. कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेतिकारणम् ।
अर्थानां पूर्वार्थाद्भवतीदं सर्वमेवेति ।। काव्या0, 7/84
2. यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता । तदा कारणमालास्यात् ।
का0प्र0, 10/120
3. उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वानुबन्धित्वं विपर्ययोवा श्रृंखला । अ0र0, सूत्र 96
4. गुम्फः कारणमाला स्याद्यथाप्राक्प्रान्तकारणैः । कुव0, 104
5. प्रत्युत्तरोत्तरं हेतुः पूर्वं पूर्वं यथा क्रमात् ।
असौ कारणमालाख्यालंकारो भणितो यथा । अ0चि0, 4/325
6. प्रताप0 पृ0 - 570

में एकावली अलंकार को माना है ।[1]

आचार्य भोज इसे परिकर से अभिन्न स्वीकार करते हैं और इसकी स्थिति शब्दगत्, अर्थगत तथा उभयगत मानते हैं ।[2]

आचार्य मम्मट कृत परिभाषा पर रुद्रट का प्रभाव है । इनके अनुसार जब पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रतिउत्तरोत्तर वस्तु विशेषण रूप से स्थापित की जाए या हटायी जाए तो वहाँ एकावली अलंकार होता है ।[3]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के लिए उत्तरोत्तर वर्णित वस्तु का विशेषण रूप से क्रमशः विधान किया जाए वहाँ एकावली अलंकार होता है ।[4] इन्होंने स्थापन तथा अपोहन पद का उल्लेख नहीं किया है । शेष अंशों में इनकी परिभाषा मम्मट के समान है ।

आचार्य रूय्यक और विद्यानाथ तथा जगन्नाथ कृत परिभाषा अजितसेन के समान है[5] जबकि जयदेव और दीक्षित क्रमिक रूप से ग्रहण किए गए और मुक्त किये गये पदार्थों में एकावली स्वीकार करते हैं ।[6]

मालादीपकः-

मालादीपक का सर्वप्रथम उल्लेख काव्यादर्श में प्राप्त होता है । जहाँ पूर्व-पूर्व वाक्य की अपेक्षा करने वाली वाक्यमाला का प्रयोग हो वहाँ मालादीपक

---

1. काव्या0, 7/109
2. स0क0भ0, 4/76
3. का0प्र0, 10/131
4. यत्रोत्तरोत्तरं पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणम् ।
   क्रमेण कथ्यते त्वेकावल्यलंकार इष्यते ।। अ0चि0, 4/327
5. (क) यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली । अ0स0सू0 55
   (ख) प्रताप0 पृ0 - 57।
   (ग) र0गं0, पृ0 - 624
6. (क) गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावलीमता ।। चन्द्रा0 5/88
   (ख) गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावलिर्मता ।। कुव0, 105

नामक अलंकार का प्रयोग होता है यह मालादीपक सभी वाक्यों में अन्वित होने वाला पद सापेक्ष व्यवस्थित हो तभी होता है ।[1] आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ अनेक पदार्थों का सम्बन्ध एक ही गुण से बताया जाए वहाँ मालादीपक नामक अलंकार होता है इसमें पूर्व में आए हुए पदार्थ का उत्तरोत्तर कथित पदार्थ के विशेषण के रूप में कथन किया जाता है । मम्मट ने पूर्व-पूर्व में कथित वस्तु का उत्तरोत्तर कथित वस्तु के उपकारक रूप में वर्णन को मालादीपक कहा है ।[2] आचार्य रूय्यक इसे दीपक अलंकार के प्रस्ताव के अन्तर्गत स्वीकार करने की चर्चा की है और इनके लक्षण पर मम्मट का प्रभाव है ।[3]

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ उत्तरोत्तर वस्तु के प्रति पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु की अपेक्षा उत्कृष्टता हो वहाँ मालादीपक अलंकार होता है ।[4] आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा पर मम्मट का प्रभाव परिलक्षित होता है । जहाँ मम्मट ने 'चेद्यथोत्तरगुणावहम्' पद का उल्लेख किया है वहीं आचार्य अजितसेन ने यत्रोत्तरोत्तरं प्रत्युत्कृष्टत्वावहताभवेत्' का उल्लेख किया है । आचार्य विद्यानाथ कृत परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[5] आचार्य विश्वनाथ अनेक धर्मियों का एक धर्म के साथ उत्तरोत्तर सम्बन्ध स्थापित होने पर मालादीपक अलंकार स्वीकार करते हैं ।[6] आचार्य जयदेव, दीक्षित तथा जगन्नाथ दीपक तथा एकावली के योग से इसकी निष्पत्ति स्वीकार करते हैं ।[7]

सारः-

आचार्य रुद्रट के अनुसार जहाँ किसी समुदाय में से एक देश (स्थान) को क्रम से पृथक् करके गुण सम्पन्न होने से उसकी उत्कृष्टता की चरम सीमा

---

1. काव्यादर्श - 278 वही, प्रकाश टीका
2. का०प्र०, 10/104
3. अ०स०, सू० - 56
4. यत्रोत्तरोत्तरं प्रत्युत्कृष्टत्वावहतां भवेत् ।
   पूर्वपूर्वस्य वै चैतन्मालादीपकमिष्यते ।। अ०चि०, 4/330
5. प्रताप० पृ० - 572
6. सा०द०, 10/76
7. (क) दीपकैकावलीयोगान् मालादीपकमुच्यते ।। चन्द्रा०, 5/89
   (ख) दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते । कुव०, 107
   (ग) र०गं०, पृ० - 625

निश्चित की जाती है उसे सार कहते हैं ।[1] आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ चरम-सीमा तक किसी पदार्थ के उत्तरोत्तर उत्कृर्ष का वर्णन किया जाए वहाँ सार अलंकार होता है ।[2] आचार्य अजितसेन कृत परिभाषा भी मम्मट के समान है । इन्हें भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन में सार अलंकार अभीष्ट है ।[3] आचार्य रूय्यक जयदेव, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ कृत परिभाषा प्रायः अजितसेन के समान है ।[4] 'किन्तु कारणमाला, एकावली मालादीपक और सार अलंकार में विभिन्न वर्ण्य पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध श्रृंखलामूलक होता है । जयरथ और जगन्नाथ ने इसपर विचार किया है कि ये चारों अलंकार श्रृंखला - अलंकार के भेद हैं अथवा इनकी सत्ता स्वतन्त्र अलंकारों के रूप में मानी जाय ? विचार विमर्श के अनन्तर दोनों विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँते हैं कि इन्हें स्वतंत्र रूप में अलंकार स्वीकारना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक का अपना - अपना सौन्दर्य है अन्यथा औपम्य और विरोध दो अलंकार मानकर समग्र, औपम्यमूलक एवम् विरोध मूलक अलंकारों को उन्हीं में समाविष्ट करना पड़ेगा ।"[5] आचार्य शोभाकर मित्र ने सार अलंकार का निरूपण नहीं किया है क्योंकि वे सार के स्थान पर वर्धमान नामक अलंकार स्वीकार करते हैं ।[6]

(10) मिश्र अलंकारः-

संसृष्टिः-

संसृष्टि का विवेचन सर्वप्रथम आचार्य भामह ने किया । इनके अनुसार रत्नमाला की भाँति जहाँ अनेक अलंकारों का सम्मिश्रण हो वहाँ संसृष्टि अलंकार

---

1. काव्या0, 7/96
2. उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः । — का0प्र0, 10/123
3. यत्रोत्तरोत्तरोत्कर्षः सा सारालंकृतिर्यथा ।। — अ0चि0, 4/332
4. (क) उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार ।। — अ0स0, सू0 56
   (ख) सारोनाम पदोत्कर्षः सारतायायथोत्तरम् ।। — चन्द्रा0, 5/90
   (ग) उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते ।। — कुव0, 108
   (घ) सैवसंसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः ।। — र0गं0, पृ0 - 626
5. चन्द्रालोक-सुधा हिन्दी टीका, ले0 सिद्धसेन दिवाकर
6. रूपधर्माभ्यामाधिक्यं वर्धमानकम् । — अ0र0, सू0 - 93

होता है ।[1]

आचार्य दण्डी ने गौण प्रधान भाव से अलंकारों के सम्मिश्रण को संसृष्टि कहा है ।[2]

आचार्य वामन ने कार्यकारण भाव में संसृष्टि की सत्ता स्वीकार की है।[3]

आचार्य उद्भट ने दो अथवा बहुत से अलंकारों का निरपेक्षभाव से स्थिति को संसृष्टि कहा है ।[4]

आचार्य मम्मट की परिभाषा पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न है । मम्मट के अनुसार जहाँ परस्पर निरपेक्ष अनेक अलंकारों की एकत्र स्थिति हो वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है ।[5] तथा इसके निम्नलिखित भेद भी किए हैं - शब्दगत संसृष्टि, अर्थगत संसृष्टि तथा उभयगत संसृष्टि ।

आचार्य बलदेव विद्याभूषण कृत परिभाषा मम्मट से अनुकृत है ।[6] आचार्य अजितसेन तिल तण्डुल न्याय से रूपकादि अलंकारों की शिलष्ट प्रतीति को संसृष्टि के रूप में स्वीकार करते हैं ।

इनकी भेद व्यवस्था मम्मट के ही समान है । इन्हें अलंकारों की शब्दनिष्ठता, अर्थनिष्ठता तथा शब्दार्थनिष्ठता में संसृष्टि अलंकार स्वीकार है ।[7] संसृष्टि के

---

1. वराविभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः ।
   रचितारत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा ।।
   शिलष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वितः ।
   रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ।। भा0, काव्या0, 3/49, 47
2. का0द0 2/359, 60
3. काव्या0 सू0, 4/3/30, 31, 32
4. अलंकृतीनां बह्वीनां द्वयोर्वापि समाश्रयः ।
   एकत्र निरपेक्षाणां मिथः संसृष्टिरूच्यते ।। काव्या0सा0सं0, 6/5
5. सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः । का0प्र0 10/139 दृष्टव्य वृत्ति
6. सा0कौ0, 10/54
7. तिलतण्डुलवच्छ्लेषा रूपकाद्या अलंक्रिया ।
   अत्रान्योन्यं च संसृष्टिः शब्दार्थोभयतस्त्रिधा ।। अ0चि0, 4/333

लक्षण में तिलतण्डुलन्याय का उल्लेख करके, संसृष्टि के लक्षण को अधिक स्पष्ट बना देना अजितसेन की विशेषता है । जिस प्रकार तण्डुल तथा तिल दोनों का स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होता रहता है ठीक उसी प्रकार से जहाँ अनेक अलंकारों की स्थिति परस्परनिरपेक्ष भाव से हो वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है ।

परवर्ती काल में रुय्यक तथा विद्यानाथ कृत परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[1] आचार्य शोभाकर मित्र चारुत्व के अभाव में संसृष्टि अलंकार स्वीकार नहीं करते, किन्तु अनुसंधात्री के विचार से निरपेक्षभाव से स्थित अलंकारों में मणि-काञ्चन से उत्पन्न सौन्दर्य की भाँति सौन्दर्याधिक्य की सृष्टि होती है जो वस्तुतः अलंकार का सामान्य लक्षण है ।

संकरः-

प्राचीन आलंकारिको में सर्वप्रथम उद्‌भट ने संकर अलंकार की कल्पना की । इनके अनुसार जहाँ किसी एक अलंकार को मानने में साधक तथा बाधक प्रमाणों का अभाव हो और शब्दालंकार तथा अर्थालंकार आदि अनेक अलंकारों का सम्मिश्रण हो वहाँ संकर अलंकार होता है ।[2]

आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ भिन्न - भिन्न अलंकारों की अंगांगिभाव से स्थिति हो, वहाँ संकर अलंकार होता है ।[3] इन्होंने इसके तीन भेदों का उल्लेख किया है -

1. अंगांगिभाव संकर
2. संदेह संकर
3. एकवाचकानुप्रवेश

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ क्षीर-नीर न्याय से अनेक अलंकार

---

1. (क) एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः । अ0स0, सू0 - 85
   (ख) तिलतण्डुलसंश्लेषन्यायाद्यत्र परस्परम् ।
   संश्लिष्येयुरलंकारा सा संसृष्टिर्निगद्यते ।। प्रताप0, 575
2. काव्या0 सा0 सं0, 5/11, 12, 13
3. अविश्रान्तिजुषामात्मन्यंगांगित्वं तु संकरः । का0प्र0, 10/140 द्र0 वृत्ति।

परस्पर मिले हों वहाँ संकर अलंकार होता है । इन्होंने इसके तीन भेदों का उल्लेख किया है-[1]

1. स्वजातीयाविजातीयअंगांगिभाव संकर
2. एकशब्दप्रवेश संकर
3. सन्देह संकर

आचार्य रुय्यक एवं अप्पय दीक्षित एवं विद्यानाथ की परिभाषा अजितसेन से प्रभावित है ।[2]

---

1. क्षीरनीरवदन्योन्यसंबन्धा यत्रभाषितः ।
   उक्तालंकृतयः सोऽयं संकरः कथितो यथा ।। अ0चि0, 4/337

2. (क) नीरक्षीरन्यायेन तु संकरः । अ0स0, सू0 - 86
   (ख) नीरक्षीरन्यायेनास्फुटभेदालंकारमेलने संकरः । कुव0 285
   (ग) नीरक्षीरनयाद्यत्र संबन्धः स्यात् परस्परम् ।
   अलंकृतीनामेतासां संकरः स उदाहृतः ।। प्रताप0, पृ0 - 576

अध्याय - 6

काव्य रस, दोष तथा गुणादि निरूपण

रस तथा रसावयव

रस का महत्त्व अनादि काल से प्रतिपादित है । अलंकारशास्त्र में रस को सर्वोपरि स्वीकार किया गया है तथा इसे आत्मा के समकक्ष माना गया है ।[1] भरतमुनि ने रस पर विवेचन करते हुए लिखा है कि रस के बिना काव्य में किसी अर्थ का प्रवर्तन नहीं होता ।[2]

अग्निपुराण के अनुसार वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता होने पर भी काव्य के जीवातु के रूप में रस को ही स्वीकार किया गया है ।[3] किसी अज्ञात कवि ने रस की प्रशंसा में कहा है कि यदि काव्य में रससम्पत्ति है तो अलंकार व्यर्थ है । यदि रस सम्पत्ति नहीं है तो भी अलंकारों का कोई महत्त्व नहीं है ।[4] आचार्य आनन्दवर्धन ने बताया कि महर्षि वाल्मीकि के हृदय में विद्यमान शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हुआ । जिससे यह सिद्ध होता है कि मानव के हृदय में स्थित शोक ही श्लोक की उत्पत्ति का कारण है ।[5] महाकवि भवभूति भी इसी मत के पोषक प्रतीत होते हैं ।[6] अतः यह रस क्या है इस सन्दर्भ में चर्चा करना नितान्त अपेक्षित है ।

आचार्य भरत के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के योग से रस निष्पत्ति की चर्चा की गयी है ।[7] यद्यपि भरत कृत रस सूत्र अत्यन्त सरल प्रतीत होता है तथापि विभिन्न व्याख्याओं के कारण यह बहुत ही क्लिष्ट हो गया है । इस रस सूत्र के विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव शब्दों की

---

1. रसो वै सः रस हयेवायं लब्ध्वा नन्दीभवति ।
   तैत्ति0 उप0, ब्रह्मानन्द वल्ली, अनु0-6
2. नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते । ना0शा0, अ0-6
3. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्रं जीवितम् ।
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग-2, कन्हैयालाल पोद्दार, पृ0-53
5. ध्वन्यालोक, 1/5
6. एकोरसः करुण एव निमित्तभेदात् । उ0रा0 अंक 3
7. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः । ना0टा0, अ0 46

व्याख्या में कोई मतभेद नहीं है तथापि "संयोगात्" व 'निष्पति' पदों की व्याख्या करने में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूप से अपने-अपने विचारों को व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में अन्तिम प्रमाणिक व्याख्या अभिनव गुप्त की स्वीकार की जाती है। उन्होंने संयोगात् पद का अर्थ व्यंग्य व्यंज्यक भावार्थ और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति करके रस को व्यंग्य माना है । इन्होंने अपनी व्याख्या को प्रस्तुत करने के पूर्व भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक तथा भट्टनायक के मत को प्रस्तुत किया ।

भरत सूत्र के प्रथम व्याख्याकार भीमांसक भट्ट लोल्लट है इनके अनुसार संयोगात् पद का अर्थ उत्पाद्य - उत्पादक भाव सम्बन्धात् है तथा निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है ।[1]

आचार्य भट्ट शंकुक के अनुसार संयोगात् पद का अर्थ अनुमाप्य अनुमापक भाव सम्बन्धात् और निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है ।[2]

आचार्य भट्ट नायक के अनुसार संयोगात् पद का अर्थ भोज्य भोजक भाव सम्बन्ध है तथा निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है ।[3]

भट्ट नायक ने भावकत्व तथा भोजकत्व रूप नवीन व्यापार की कल्पना की । जो परवर्ती आचार्यों को मान्य नहीं हुई क्योंकि भावना और भोग का समावेश व्यंग्य - व्यंज्यक भाव में हो जाता है ।[4]

त्रयंशायामपि भावनायांकारणीशे ध्वननमेव निपतति ।
भोगोपि --- लोकोत्तरोध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः ।

ध्वन्यालोक, पृ0 - 70

आचार्य मम्मट के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से अभिव्यक्त स्थायी भाव ही रस है ।[5] परवर्ती काल में विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि

---

1. का0प्र0, दा0 सत्यव्रत सिंह, पृ0 - 66 (मूल संस्कृत व्याख्या के लिए)
2. मूल संस्कृत व्याख्या - का0प्र0, पृ0 - 7।
3. वही, पृ0 - 7।
4. सं0, सा0इति0, पृ0 - 65
5. का0प्र0, सूत्र 43

आचार्यों ने मम्मट विषयक रस सिद्धान्त को सादर स्वीकार कर लिया है ।[1]

रस की अभिव्यक्ति में भरतमुनि ने स्थायी भाव का उल्लेख नहीं किया जब कि मम्मट ने विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव से अभिव्यक्त स्थायी भाव को रस कहा है अतः रस के उद्बोधक उपयुक्त पारिभाषिक पदों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है ।

स्थायी भावः-

मनुष्य अपने जीवन में जो कुछ भी देखता है, सुनता है, अनुभव करता है उसका संस्कार उसके हृदय में वासना के रूप में अवस्थित रहता है । वासना रूप में स्थित यह स्थायी भाव किसी प्रतिकूल या अनुकूल भावों से तिरोहित नहीं हो सकता ।[2] विभाव अनुभाव और संचारी भावों की अपेक्षा इनकी स्थिति चिरकालिक होती है । इन्हीं विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से अभिव्यक्त हुआ स्थायी भाव रस कहा जाता है ।[3]

आचार्य अजितसेन स्थायी भाव को रस न कहकर रस का अभि व्यञ्जक बताया है इनके अनुसार इन्द्रिय ज्ञान से संवेद्यमान मोहनीय कर्म से उत्पन्न रस की अभिव्यक्ति कराने वाली चित्त वृत्ति रूप पर्याय ही स्थायी भाव है ।

स्थायी भाव चित्त की वह अवस्था है जो परिवर्तन होने वाली अवस्थाओं में एक सी रहती हुई उन अवस्थाओं से आच्छादित नहीं हो जाती, बल्कि उनसे पुष्ट होती रहती है । मुख्य भाव स्थायी भाव कहा जाता है अन्य भाव स्थायी भाव के सहायक एवं वर्धक होते हैं । इन्होंने रसाभिव्यञ्जक चित्तवृत्ति को स्थायी भाव के रूप में स्वीकार करके एक नवीन विचार प्रस्तुत किया है ।[4]

विभाव का स्वरूपः-

आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ नाटक इत्यादि देखने वालों तथा

---

1. (क) प्रताप० पृ० - 258
   (ख) सा०द०, 3/1
2. सा०द०, 3/174
3. का०प्र०, 4/27-28
4. तेनसंवेद्यमानो यो मोहनीयसमुद्भवः ।
   रसाभिव्यञ्जकः स्थायिभावश्चिद्वृत्तिपर्यय ।। अ०चि०, 5/2
   रतिहासशुचः क्रोधोत्साहौ भयजुगुप्सने
   विस्मयः शम इत्युक्ताः स्थायिभावा नव क्रमात् ।। वही, 5/3

काव्यादि को सुनने वालों के चित्त में रति आदि को जो आस्वाद्योत्पत्ति के योग्य बनाते हैं उन्हें विभाव कहा गया है । आलम्बन तथा उद्दीपन इसके दो भेद कहे गए हैं ।

आलम्बन भाव:-

जिन्हें आलम्बन बनाकर रस अभिव्यक्त होता है उसे आलम्बन विभाव कहते हैं[2] तथा रस के उत्पादक को उद्दीपन विभाव कहते हैं । इनकी परिभाषा के अनुसार ही परवर्ती काल में आचार्य विश्वनाथ ने भी विभाव के स्वरूप को अभिव्यक्त किया ।[3]

अनुभाव:-

अनुभाव एक प्रकार का मनोविकार है जो हृदय में विद्यमान भावों को सूचित करता है ।[4] नायक तथा नायिकाओं की चेष्टाएँ कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि का वर्णन जब काव्य में किया जाता है तो उसे अनुभाव कहते हैं ।[5]

साहित्यदर्पणकार कृत परिभाषा पर अजितसेन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।[6]

सात्विक भाव:-

आचार्य अजितसेन ने चित्तवृत्ति में होने वाले भावों को सात्त्विक भाव के रूप में स्वीकार किया है तथा इनकी संख्या आठ मानी है । जो इस प्रकार है-[7]

---

1. नाटकादिषु काव्यादौपश्यतां श्रृण्वतां रसान् ।
   विभावयेद् विभावश्चालम्बनोद्दीपनाद् द्विधा ।। वही, 5/5
2. (क) यानालम्ब्य रसोव्यक्तो भावा आलम्बनाश्च ते । वही, 5/6 का पूर्वार्द्ध
   (ख) उद्दीप्यते रसो चैस्तेभावा उद्दीपनामताः । वही, 5/8 पूर्वार्द्ध
3. सा0द0, 3/29-31
4. द0रू0, 4/3
5. सा0द0, 3/135
6. रसोऽनुभूयते भावैर्येरुत्पन्नोऽनुभावकैः ।
   तेऽनुभावा निगद्यन्ते काटाक्षादिस्तनूद्भवः । अ0चि0, 5/14
7. वही, 5/16

रोमांच, वैस्वर्य, स्वेद, स्तम्भ, लय, अश्रु, कम्प और वैवर्ण्य । इन सभी के स्वरूप का भी विवेचन किया है ।[1]

परवर्तीकाल में विद्यानाथ तथा विश्वनाथ ने भी उपर्युक्त आठ सात्त्विक भावों को स्वीकार किया है ।[2]

व्यभिचारी भाव:-

व्यभिचारी भाव स्थित न रहने वाली चित्रवृत्तियाँ हैं ये रस के प्रति उन्मुख होकर विशेष रूप से विचरण करती हैं तथा स्थायी भावों में इस प्रकार डूबती उतराती रहती हैं जैसे समुद्र में तरंगे ।[3]

अजितसेन कृत परिभाषा दशरूपककार के समान ही है । इन्होंने व्यभिचारी भाव के 33 भेदों का उल्लेख किया है ।[4] तथा प्रत्येक के स्वरूप का भी उल्लेख किया है ।[5] व्यभिचारी भावों के निरूपण के पश्चात् नर्तक को रसों तथा भावों का अधिकारी बताया है ।[6] अधिकारी के उल्लेख के पश्चात् रति और उल्लास से समुद्भूत होने वाले काम की दश अवस्थाओं का भी उल्लेख किया है जो निम्नलिखित है-[7] (1) द्रृष्टि का अभीष्ट में लगना, (2) मन का अभीष्ट में लगना, (3) अभीष्ट की प्राप्ति के लिए मन में संकल्प का होना, (4) जागरण, (5) कृशता, (6) विषयमात्र के प्रति द्वेष का होना, (7) लज्जा का नाश, (8) मोह, (9) मूर्च्छा, (10) मृति - इस प्रकार अजितसेन ने कामजन्य अवस्थाओं का वर्णन किया है जो भरत अनुकृत है -[8]

---

1. अ0चि0, 5/17-25
2. (क) प्रताप0, पृ0 - 263
   (ख) सा0द0, 3/135
3. द0रू0, 4/8
4. अ0चि0, 5/26, 27
5. अ0चि0, पृ0 232 से 242 तक
6. वही, 5/63
7. अ0चि0 5/64
8. वही 5/65-79

रस तथा उनके स्थायीभाव

रस नाम[1]	रस भेद	स्थायी भाव
शृंगार	संभोग व विप्रलम्य	रति
हास्य		हास
करूण		शोक
रौद्र		क्रोध
वीर	दान, दया, युद्ध	उत्साह
भयानक		भय
वीभत्स		जुगुप्सा
अद्भुत		विस्मय
शान्त		निर्वेद

इन्होंने प्रत्येक रस के आलम्ब तथा उद्दीन विभावों का भी उल्लेख किया है ।[2] इसके साथ ही रसों के परस्पर विरोध की भी चर्चा की है । जो इस प्रकार है[3]-

शृंगार और वीभत्स
वीर और भयानक
रौद्र और अद्भुत
हास्य और करुण

रसों के वर्ण और देवता का भी उल्लेख किया है ।[4]

---

1. वही, 5/83-85
2. अ0चि0, 5/106 से 129 तक
3. अ0चि0, 5/130
4. वही, 5/132-133

रस	वर्ण	देवता
श्रृंगार	श्याम	विष्णु
हास्य	चन्द्रमा के समान शुभ्र	गणपति
करूण	कपोत	यमराज
रौद्र	रक्त	रूद्र
वीर	गौरकान्ति	इन्द्र
भयानक	धूम्र	महाकाल
वीभत्स	नील	काल
अद्भुत	पीत	ब्रह्मा
शान्त	श्वेत	शान्तमूर्ति परादि ब्रह्म

रस तथा रसावयव के वर्णन के क्षेत्र में भी आचार्य अजितसेन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है ।

रीतिः -

काव्यशास्त्र में रीति शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य वामन ने किया है और उसे काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है । उन्होंने विशिष्ट पद, रचना अर्थात् शब्दों की विशिष्ट व्यवस्था अथवा नियोजन को रीति कहा है। यह वैशिष्ट्य गुणों में होता है उन्होंने वैदर्भी, गौडी, और पांचाली तीन रीतियों का उल्लेख किया है तथा यह भी बताया है कि वैदर्भी रीति में सभी दस गुण होते हैं गौड़ी में कान्ति गुण तथा पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुण आते हैं ।[1] इसके अतिरिक्त इन्होंने रीतियों का सम्बन्ध देशविशेष से भी बताया है ।[2] किन्तु काव्य को किसी देश से सम्बन्धित करना असमीचीन प्रतीत होता है ।

पूर्ववर्ती आचार्य भामह एवं दण्डी ने भी रीतियों को स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने कहीं पर रीति शब्द का उल्लेख नहीं किया तथापि उनके द्वारा स्वीकृत वैदर्भ एवं गौड मार्ग जो गुणों पर ही आधारित है एवं वामन की रीतियों

---

1. रीतिरात्मा काव्यस्य । विशिष्ट पद रचना रीतिः । विशेषो गुणात्मा । (काव्या0 सू0, 1/1/6 से 1 1,12,13)

2. वही, सू0 1/2

को जो गुणों से अभिन्न है । यदि गुणों एवं रीतियों की स्थिति को अविनाभाव सम्बन्ध से स्वीकार कर लिया जाए तो यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भामह एवं दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्य भरत भी रीतियों को स्वीकार करते हैं क्योंकि भरत ने भी दस गुणों को स्वीकार किया है जो कालान्तर में दण्डी के चिन्तन का मार्ग, रीति विषयक आदिम स्रोत बना ।[1] रुद्रट द्वारा निरूपित रीतियों के नाम पांचाली, लाटीया, गौडीया तथा वैदर्भी । वामन की रीतियों से अभिधान साम्य होने पर भी दोनों में मौलिक अन्तर है । वामन की रीतियाँ गुणाश्रित है किन्तु रुद्रट की रीतियाँ गुणों पर आधारित न होकर सामाजिक योजनाओं पर अवलम्बित है।[2]

आचार्य अजितसेन ने भी सामाजिक संरचना पर आधारित रीतियों का विवेचन किया है । इन्होंने गुण सहित सुगठित शब्दावली से युक्त सन्दर्भ को रीति की अभिधा प्रदान की है ।[3] संस्कृत के अन्य आचार्यों ने विशिष्ट पद रचना को रीति कहा है । इन्होंने भी वामन के समान वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली रीति का उल्लेख किया है ।

(1) वैदर्भी: -

काठिन्य से रहित अल्प समास वाली रचना को वैदर्भी रीति कहा गया है ।[4]

(2) गौड़ी: -

ओज और कान्तिगुण से सम्पन्न समास बहुला संरचना को गौड़ी रीति के रूप में मान्यता दी गयी है ।[5]

(3) पांचाली: -

वैदर्भी और गौड़ी के समन्वयात्मक वर्णन को पांचाली रीति कहा गया है ।[6]

---

1. (क) भा0, काव्या0, 1/32
   (ख) का0द0, 1/40
2. रु0, काव्या0, 259
3. गुणसंश्लिष्टशब्दौघसंदर्भो रीतिरिष्यते ।
   त्रिविधा सेति वैदर्भी गौडी पाञ्चालिका तथा ।। अ0चि0, 5/134
4. अ0चि0, 5/135
5. ओजः कान्तिगुणा पूर्णायासा गौडी मता यथा ।। अ0चि0, 5/137 का पूर्वाद्ध

इन्होंने मृदु समास वाली तथा स्वल्प घोष अक्षर वाली रचना को लाटी कहा है ।[1]

आचार्य विद्यानाथ तथा विश्वनाथ द्वारा निरूपित रीतियाँ अजितसेन से प्रभावित हैं ।[2]

रीतियों के भेद के पश्चात् पदों के अनुगुण रूप वाली मैत्री को शय्या तथा पाक रूप से दो भागों में विभाजित किया है । पाक को भी द्राक्षापाक और नारिकेल पाक रूप से दो भागों में विभाजित किया है ।[3] बाहर और भीतर दृश्यमान रहने वाले पाक को द्राक्षापाक और केवल भीतर छिपे हुए रस वाले को नारिकेल पाक के रूप में स्वीकार किया है ।[4]

रीतियों के विवेचन के पश्चात् इन्होंने काव्य सामग्री की भी चर्चा की है ।[5] जिसमें रस, गुण, अलंकार, पाक रीति आदि के कथन को काव्य सामग्री के रूप में स्वीकार किया है तथा अर्थ निरूपण के पूर्व शब्द पद, वाक्य, खण्ड वाक्य और महावाक्य को वचन कहा है ।[6] शब्द के रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ भेदों का उल्लेख भी किया है । इसी प्रसंग में पद, वाक्य, खण्ड वाक्य तथा महावाक्य के लक्षण तथा उदाहरण भी दिए हैं ।[7]

पद, वाक्य तथा महावाक्य का निरूपण अजितसेन के समान ही आचार्य विश्वनाथ ने भी किया है ।[8]

---

1. मृदुसमासा बहुयुक्ताक्षररहिता स्वल्पघोषाक्षरा लाटी, वही, पृ0-260
2. (क) प्रमाप0, काव्यप्रकरण, पृ0 - 82-85
   (ख) सा0द0, परि0 9, पृ0 598-602
3. (क) अथशय्यापाको कथ्येते । अ0चि0, पृ0 - 26।
   (ख) प्रताप0, काव्यप्रकाश, पृ0 - 86-87
4. अ0चि0, 5/144
5. शब्दः पदं च वाक्यं च खण्डवाक्यं तथा पुनः ।
   महावाक्यमिति प्रोक्तं वचनं काव्यकोविदैः ।। वही, 5/145
6. रूढयौगिकमिश्रेभ्यो भेदेभ्यः स त्रिधा पुनः ।
   अ0चि0 5/146 का उत्तरार्ध, द्र0पृ0 163-66
7. सा0द0, परि0 2, पृ0 27-30, लक्ष्मी संस्कृत टीका ।

शब्द अर्थ तथा शब्द शक्तियाँ

आचार्य मम्मट ने शब्द, अर्थ तथा शक्ति के तीन भेदों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है ।[1]

शब्द	अर्थ	शब्दशक्ति
वाचक	वाच्यार्थ	अभिधा
लक्षक	लक्ष्यार्थ	लक्षणा
व्यंजक	व्यंग्यार्थ	व्यञ्जना

इसके अतिरिक्त मीमांसकों के मत में होने वाली तात्पर्याख्या शक्ति का भी निरूपण किया है ।[2]

आचार्य अजितसेन कृत विवेचन पर मम्मट का प्रभाव है किन्तु इन्होंने तात्पर्यार्थ को व्यंग्यार्थ के रूप में स्वीकार किया है । इन्होंने गौणी वृत्ति को लक्षणा विशेष के रूप में ही स्वीकार किया है । उदाहरणार्थ - 'गंगायांघोषः' में गंगा शब्द मुख्यार्थ है तट लक्ष्यार्थ है तथा शीतलादि व्यंग्य है ।[3]

कतिपय आचार्य 'सिंहो माणवकः' में सादृश्य सम्बन्ध के कारण गौणी लक्षणा स्वीकार करते हैं । इसका उल्लेख आचार्य मम्मट ने भी किया है ।[4] अजितसेन के अनुसार वाच्यार्थ के अन्वित न होने से वाच्यार्थ सम्बन्धों में अच्छी तरह से आरोपित शब्द व्यापार को लक्षणा कहा गया है यह दो प्रकार का होता है सादृश्य हेतु का और सम्बन्धान्तर हेतु का । सादृश्य हेतु लक्षणा के भी - जहद्वाच्या तथा अजहद्वाच्या दो भेद होते हैं । अपने वाच्यार्थ को त्याग देने वाली लक्षणा को जहद्वाच्या तथा अपने अर्थ को त्यागे बिना अन्यार्थ को ग्रहण करने वाली लक्षणा को अजहद्वाच्या कहा गया है ।

---

1. का०प्र०, द्वितीय उल्लास ।

2. का०प्र०, प्रथम उल्लास ।

3. वाच्यलक्ष्यव्यंग्यभेदेन त्रिविधोऽर्थः । वाचकलक्षकव्यंजकत्वेन शब्दानां त्रैविध्यात् । व्यंग्यार्थ एव तात्पर्यार्थः । न पुनश्चतुर्थः ।
   अ०चि०, पृ० - 266

4. का०प्र०, द्वितीय उल्लास ।

साद्रश्य हेतु का लक्षणा के भी - सारोपा तथा साध्यवसाना दो भेद होते हैं । जहाँ विषय और विषयी दोनों के अभेद का निरूपण हो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है तथा जहाँ विषयी के द्वारा विषय का निगरण कर लिया जाए वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है ।[1] आचार्य अजितसेन कृत लक्षणा स्वरूप तथा भेद मम्मट से प्रभावित है[2] किन्तु इन्होंने गौणी लक्षणा का पृथक् निरूपण नहीं किया अतः गौडीसारोपा तथा साध्यवसाना - दो भेद छूट जाते हैं । इस प्रकार अजितसेन के अनुसार लक्षणा के चार भेद निश्चित हुए ।

अभिधा शक्तिः-

आचार्य अजितसेन के अनुसार संकेतित अर्थ को बोध कराने वाली शब्द व्यापृति को अभिधा कहा गया है ।[3]

आचार्य मम्मट ने भी संकेतितार्थ में अभिधा शक्ति को स्वीकार किया है[4] किन्तु मम्मट कृत विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ तथा गम्भीर है । आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ रूढ़ार्थ, योगार्थ तथा रूढ़योगार्थ की प्रतीति हो वहाँ अभिधा शक्ति होती है क्योंकि इन्होंने रूढ़, यौगिक और योग रूढ़ रूप से तीन प्रकार के शब्दों का उल्लेख किया है ।[4] रूढ़ शब्द को निर्योग, अस्फुट योग और योगाभास के भेद से तीन प्रकार का स्वीकार किया गया है । जिसमें यौगिक अर्थ की प्रतीति न हो वह निर्योग रूढ है, जैसे भूः इत्यादि तथा जिसमें यौगिक अर्थ की अस्पष्ट प्रतीति न हो वह अस्फुट योग है, जैसे वृक्ष इत्यादि और जिसमें वस्तुतः यौगिक शब्द की प्रतीति न होने पर भी यौगिक शब्द के समान प्रतीति हो, उसे योगाभास के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है जैसे मण्डप इत्यादि ।[5]

---

1. वाच्यार्थघटनेन तत्संबन्धिनि समारोपितशब्दव्यापारो लक्षणा ।
   सा द्विधा साद्रश्यहेतुका संबन्धान्तर्हेतुका चेति । सम्बन्धान्तर्हेतु-
   कापि द्विधा जहद्वाच्या अजहद्वाच्या चेति साद्रश्यहेतुका
   द्विधा । सारोपा साध्यवसाना चेति । एवं लक्षणा चतुर्धा ।
2. का0प्र0, द्वितीय उल्लास ।
3. संकेतितार्थविषया शब्दव्यापृतिरभिधा ।
4. का0प्र0, द्वितीय उल्लास, सू0 - 5
5. रूढयौगिकमिश्रेभ्यो भेदेभ्यं सत्रिधा पुनः । अ0चि0 1/46, उत्तरार्ध
6. (क) अ0चि0, पृ0 - 263-64
   (ख) वही, 5/147

यौगिक शब्द भी शुद्ध मूलक और संभिन्न भेद से तीन प्रकार का स्वीकार किया गया है ।[1]

शुद्ध यौगिकः-

शब्द स्थिति है क्योंकि स्थानं स्थितिः में 'स्त्रियाँ क्तिन्' से क्तिन् प्रत्यय होकर निष्पन्न है । अतः प्रकृति प्रत्यय का योग स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।

शुद्ध मूलक यौगिक लसद् तथा दीप्ति शब्दः-

यहाँ लसद् तथा दीप्ति शब्दों से बने हुए के कारण विशेषता है ।

संभिन्न यौगिक शब्दः-

जैसे- मार्कण्डेय । यहाँ मृकण्डु के अपत्य को मार्कण्डेय कहा गया है ।

रूढ़यौगिक शब्दः-

रूढ़ और योग से निःसृत होते हैं जैसे- जलधि, जलज, दुग्ध, वारिद स्वर्गभूरुह इत्यादि । इसमें रूढ़ और यौगिक दोनों का मिश्रण है ।[2]

उपर्युक्त त्रिविध प्रकार के शब्दों के अर्थ की प्रतीति अभिधा व्यापार से ही होती है । पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अभिधा शक्ति के द्वारा जिन वाचक शब्दों का बोध होता है उनके तीन भेद किए हैं - रूढ़ि यौगिक और योगरूढ़ि इनको रसगंगाधरकार ने केवल समुदायशक्ति, केवलावयव शक्ति तथा समुदायावयव शक्ति संकर कहा है ।[3]

'सेयमभिधा त्रिधाः केवलसमुदायशक्तिः, केवलावयवशक्तिः समुदायावयवशक्ति संकरश्चेति' ।

---

1. अ0चि0, 5/148
2. तन्मिश्रोऽन्योऽन्यसामान्यविशेषपरि वृत्तितः ।
   जलधिर्जलजं दुग्धवारिधिः स्वर्गभूरुहः ।।

   अ0चि0, 5/149
3. र0गं0, द्वितीय आनन, पृ0 - 126

व्यञ्जनास्वरूपः- आचार्य अजितसेन के अनुसार अनुगत पदार्थों में वाक्यार्थ को आस्वादनीय बनाने के लिए अन्यार्थ के प्रत्यायक शब्द व्यापार को व्यञ्जना वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है ।[1] इन्होंने शब्दशक्ति मूल, अर्थशक्ति मूल और उभयशक्ति मूल रूप से इसके तीन भेद किए हैं[2] तथा प्रत्येक के उदाहरण भी हैं ।

वाहिन्योव्याप्तमेदिन्यश्चक्रिणः कृतसंभ्रमाः । कबन्धापूर्णमातेनुः प्रत्यर्थिबलवारिधिम् ।। अ॰चि॰ 5/155

उक्त श्लोक में कबन्ध शब्द शत्रु सेना में कटे हुए, मस्तक रहित शरीर का वाचक है किन्तु अनेकार्थक होने से नदी-जल की भी प्रतीति होती है इसलिए यहाँ शब्दशक्तिमूला व्यञ्जना है ।

अर्थशक्ति मूलक व्यञ्जना में अनुमान की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि व्यंजक भाव में अविनाभाव सर्वथा असंभव है ।

उदाहरण- श्रीमत्समन्तभद्रारण्ये महावादिनि चागते ।
कुवादिनोऽलिखन् भूमिमङ्गुष्ठैरानताननाः ।। अ॰चि॰ 5/156

उपर्युक्त श्लोक में कुबादी शब्द के द्वारा कुत्सित शास्त्रार्थी के अतिरिक्त विषाद के कारण भूमि खोदने वाले व्यक्ति की भी प्रतीति कराता है अतः यह अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना है ।

जहाँ शब्दशक्ति तथा अर्थशक्ति दोनों की प्रतीति हो वहाँ उभयशक्ति मूला व्यञ्जना होती है यथा -

अनन्तद्योतनसर्वलोकभासकविग्रहः ।
आदिब्रह्मजिनः सर्वश्लाघ्यमानमहागुणः ।। अ॰चि॰ 5/157

---

1. अनुगतेषु वस्तुषु वाक्यार्थोपस्कारायभिन्नार्थगोचरः शब्दव्यापारो व्यञ्जना वृत्तिः । सात्रिधा ।
2. (क) शब्दशक्तिमूला, अर्थशक्तिमूला, उभयशक्तिमूलेति । क्रमेण यथा--। अ0चि0, पृ0 - 268

(ख) का0प्र0, 2/19 तथा 4/37

उपर्युक्त श्लोक में अनन्त = देव मार्ग आकाश । द्योतनः = प्रकाशक सूर्य, पुरु पक्ष में असीम बोध । व्याख्यान से अनन्त द्योतन में शब्द शक्ति मूलता है । 'सर्वलोक भासक विग्रह' तथा 'सर्वश्लाध्यमानमहागुण' में अर्थशक्ति मूलकता है । अतएव उभयशक्तिमूलक का उदाहरण है । यहाँ पुरु और रवि में उपमा अलंकार की ध्वनि है ।

नाट्य वृत्तियाँ:- वृत्तियों का सर्वप्रथम विवेचन नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है । जिसमें भारती, सात्वती, कैशिकी एवं आरभटी आदि वृत्तियों की चर्चा की गयी है।[1] भारती वृत्ति का ग्रहण ऋग्वेद से सात्वती का यजुर्वेद से और कैशिकी का सामवेद से तथा शेष का अर्थववेद से ग्रहण हुआ है । इन वृत्तियों का उल्लेख धनञ्जय के दशरूपक में भी प्राप्त होता है । इन्होंने नायकादि के व्यापार को वृत्ति कहा है तथा कैशिकी सात्वती आरभटी तथा भारती चार भेद किए हैं ।[2]

आचार्य अजितसेन ने भी रसों की स्थिति को बोध कराने वाली रचनाओं में विद्यमान वृत्तियों की संख्या चार ही स्वीकार की है ।[3]

कौशिकी वृत्ति का स्वरूपः-

आचार्य भरतमुनि के अनुसार विशेष वेशभूषा से चिन्हित स्त्रीपात्रों की बहुलता से युक्त, नृत्य गीत की प्रचुरता से युक्त, शृंगार प्रधान, चारु-विलासों को कैशिकीवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है और नर्म, स्फूर्ज, नर्मस्फोट, नर्मगर्भ के भेद से इसके चार भेदों का उल्लेख किया है ।[4] आचार्य धनञ्जय ने भी उक्त भेदों को स्वीकार किया है ।[5] आचार्य अजितसेन के अनुसार जहाँ सुकोमल सन्दर्भों से शृंगार और करुण रस का वर्णन हो वहाँ कैशिकी वृत्ति होती है ।[6] इन्होंने इसके भेद-प्रभेद का उल्लेख नहीं किया । इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने करूण रस में कैशिकी वृत्ति का उल्लेख नहीं किया ।

सात्त्वती वृत्ति का स्वरूपः-

आचार्य भरतमुनि के अनुसार जहाँ वाचिक तथा आंगिक रूप से इस

---

1. ऋग्वेदाद् भारती वृत्तिर्युजुर्वेदात्तु सात्वती ।
   कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा ।। ना०शा०, 22/24
2. द०रू०, 2/47 का पूर्वार्द्ध
3. रसावस्थानसूचिन्यो वृत्तयोरचनाश्रयाः ।
   कैशिकी चारभट्यन्यासात्त्वती भारतीपरा ।। अ०चि० 5/158
4. ना०शा०, 22/47, 48
5. द०रू०, 2/48 पूर्वार्द्ध
6. अत्यन्तमृदुसंदर्भैः शृंगारकरूणौरसौ । वर्ण्यतेयत्रधीमद्भिः कैशिकी वृत्तिरिष्यते।।

प्रकार का वर्णन किया जाए जिसमें सत्व गुण का प्राधान्य हो तो वहाँ सात्वती वृत्ति होती है । इसमें शोक का अभाव तथा हर्ष का आधिक्य निहित रहता है ।[1] धनञ्जयने भी भरत के लक्षण का ही अनुगमन किया है ।[2]

आचार्य अजितसेन की परिभाषा किञ्चित् भिन्न है इनके अनुसार जिस रचना में वीर और भयानक रस को साधारण प्रौढ़ सन्दर्भ से वर्णित किया जाए वहाँ सात्वती वृत्ति होती है ।[3] इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भयानक रस में सात्वती वृत्ति का उल्लेख नहीं किया ।

आरभटी वृत्ति का स्वरूपः-

आचार्य भरतमुनि भयानक, बीभत्स तथा रौद्र रस में आरभटी वृत्ति को स्वीकार करते हैं ।[4] आचार्य धनञ्जय के अनुसार माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टाओं में आरभटी को स्वीकार किया गया है । धनञ्जय ने रौद्र तथा बीभत्स रस में आरभटी स्वीकार किया है ।[5]

अजितसेन अत्यन्त प्रौढ़ सन्दर्भों से युक्त रौद्र और बीभत्सरस में आरभटी वृत्ति को स्वीकार किया है ।[6]

भारती वृत्ति का स्वरूपः-

आचार्य भरत ने करूण तथा अद्भुत रस में भारती वृत्ति को स्वीकार किया है ।[7] संस्कृत भाषा में नट द्वारा किया गया वाचिक व्यापार भारती वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है ।[8] आचार्य अजितसेन के अनुसार जिस सुकुमार सन्दर्भ में हास, शान्त और अद्भुत रस का वर्णन हो वहाँ भारती वृत्ति होती है ।[9]

---

1. ना0शा0, 22/38, 39
2. द0रू0, 2/53
3. ईषत्प्रौढ़ौ निरूप्येते यत्र वीरभयानकौ । अनतिप्रौढसंदर्भात्सात्वतीवृत्तिरुच्यते ।।
   अ0चि0, 5/164
4. ना0शा0, 23/66 का पूर्वार्द्ध
5. द0रू0, 2/56 तथा 62
6. वर्ण्यतेरौद्रबीभत्सौ रसौयत्रकवीश्वरैः ।
   अतिप्रौढैस्तु संदर्भैर्भविदारभटी यथा ।। अ0चि0, 5/162
7. ना0शा0, 23/66
8. द0शा0, 3/5

इन्होंने आरभटी और कैशिकी की मध्यमा नामक वृत्ति को सभी रसों में स्वीकार किया है ।[1]

भरतमुनि, धनञ्जय ने इस वृत्तियों के वर्णन में यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि श्रृंगार रस में कैशिकी, वीर में सात्वती, रौद्र व वीभत्स में आरभटी तथा अन्यशेष रसों में भारती वृत्ति होती है ।[2]

व्यंग्यार्थ के स्फुटता तथा अस्फुटता के आधार पर काव्य भेद निरूपणः-

आचार्य अजितसेन ने व्यंग्यार्थ के अप्रधान और अस्पष्ट रहने के कारण काव्य के क्रमशः मध्यम, उत्तम और जघन्य इन तीन भेदों का उल्लेख किया ।[3] इन्होंने व्यंग्यार्थ के मुख्य न होने पर मध्यम या गुणीभूत व्यंग्य काव्य, तथा व्यंग्यार्थ के मुख्य रहने पर उत्तम या ध्वनि काव्य और व्यंग्यार्थ के अस्पष्ट रहने पर अधम या चित्रकाव्य का निरूपण किया है ।[4] इनके विवेचन पर पूर्ववर्ती आचार्यों आनन्दवर्धन तथा मम्मट का स्पष्ट प्रभाव है किन्तु इन्होंने मध्यम, उत्तम तथा जघन्य क्रम से काव्य भेदों का उल्लेख किया है जबकि आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने उत्तम मध्यम तथा अधम या अवर के क्रम से उल्लेख किया है ।[5] आचार्य अजितसेन ने चित्रकाव्य को तीन भागों में विभाजित किया है[6] - शब्द चित्र, अर्थचित्र तथा शब्दार्थोभय चित्र । आचार्य मम्मट ने शब्दार्थोभय चित्र का उल्लेख नहीं किया ।

चित्रकाव्य के निरूपण के पश्चात् इन्होंने अभिधामूला व्यञ्जना के स्वरूप का उल्लेख किया है । इनके अनुसार जहाँ संयोगादि के कारण अनेकार्थक वाचक अभिधामूलक शब्द अवाच्यार्थ को व्यक्त करता है वहाँ व्यञ्जना वृत्ति

---

1. वही 5/168
2. (क) ना०शा० 23/65-66, (ख) द०रू०, 2/62
3. गौणागौणास्फुटत्वेभ्यो वयंग्यार्थस्य निगद्यते ।
   काव्यस्य तु विशेषोऽयं त्रेधामध्योवरोऽधरः ।। अ०चि० 5/172
4. वही, वृत्ति पृ० - 274
5. (क) ध्वन्या०, 3/42, 43 की वृत्ति ।
   (ख) का०प्र० प्रथम उल्लास ।
6. चित्रं शब्दार्थोभयभेदेन त्रिधा । अ०चि०, पृ० - 275

होती है ।[1] इन्होंने निम्नलिखित कारणों से होने वाली अर्थ प्रतीति में व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार किया है[2] -

संयोग, अर्थविरोधिता, प्रकरण, विप्रयोग, औचित्य, सामर्थ्य, स्वर, साहचर्य, अन्य शब्दसान्निध्य, व्यक्ति, देश, लिंग, काल और कवियों की चेष्टा इत्यादि अर्थ-विशेष के कारण होते हैं । इनके उदाहरण इस प्रकार हैं[3] -

'वज्रयुक्त हरि' - इस वाक्य में वज्र के संयोग से हरि शब्द इन्द्र का वाचक है । स्याद्वाद में वह जिनसेव्य है, यहाँ जिनका अर्थ अर्हन् है ।

'पद्मविरोधी हरिः-' इस वाक्य में पद्मविरोधी होने के कारण हरि का अर्थ चन्द्रमा है । 'देवः मां वेति' - इस वाक्य में प्रकरणवश 'माँ' से सत्यवादिता का बोध होता है । 'अपविः हरिः' - इस वाक्य में अस्त्रयोग न रहने से कृष्ण की प्रतीति होती है । 'स जिनः वः अव्यात्' - इस वाक्य में औचित्य के कारण सम्मुखता का बोध होता है । 'कोकिलो मधौ रौति' - इस वाक्य में मधु अर्थ का सामर्थ्य के कारण बसन्त माना जाता है । वेद में जिस प्रकार स्वर के कारण अर्थ बदल जाता है उस प्रकार काव्य में अर्थ परिवर्तन नहीं होता ऐसा कतिपय कुविचारकों का मत है । 'सीरिमाधवयोः' - इस वाक्य में सीरि के साहचर्य से माधव कृष्ण का द्योतक हुआ ।

'सज्योत्स्नः राजा' - इस वाक्य में 'सज्योत्स्नः' के सान्निध्य से राजा शब्द चन्द्रमा का बोध कराता है । 'अभान् मित्रम्' - इस वाक्य में व्यक्ति के कारण 'मित्रम्' का सुहृद् अर्थ है तथा 'अभान् मित्रः' ऐसा कहने पर मित्र का अर्थ सूर्यमण्डल होता है । 'अत्र देवो भाति' - इस वाक्य के कहने पर देश के कारण देव शब्द राजा का बोधक है । 'अंगजः मीनकेतुः स्यात्' इस वाक्य में पुल्लिंग निर्देश के कारण अंगज शब्द कामदेव का बोधक है ।

---

1. संयोगादिभिरनेकार्थवाचकः शब्दोऽभिधामूलः अवाच्यं व्यनक्तीति व्यञ्जना विशेष उच्यते । अ0चि0, पृ0 - 276

2. संयोगार्थविरोधिते प्रकरणंस्यात् विप्रयोगौचिती
   सामर्थ्यं स्वरसाहचर्यपरशब्दाभ्यर्णताव्यक्तयः ।
   देशो लिंगमतोऽपि कालइह चेष्टाद्याः कवीनांमताः
   शब्दार्थेष्वनवच्छिद्रे स्फुटविशेषस्य स्मृतेर्हेतवः ।। अ0चि0, 5/179

3. अ0चि0 5/80 से 88 तक, पृ0 - 277-78

'विभाति सविता' - इस वाक्य के कहने पर रात्रि में सविता का अर्थ जनक लिया जाएगा और दिन में सूर्य अर्थ विद्वान् लोग काल से अर्थ निर्णय करते हैं । 'एतन्मात्राकुचा' इस वाक्य के कहने पर चेष्ठा से अर्थ का निश्चय होता है। साथ रहने के कारण वस्तु भी अर्थ का व्यंजक मानी गयी है ।

दोष निरूपण:-

काव्य की उपादेयता तथा हृदयवर्जकता के लिए कवि को निर्दुष्ट होना आवश्यक है । कवि न होने से कोई भी व्यक्ति अधर्मी, व्याधित व दण्डनीय नहीं हो जाता, पर कवि होकर दुष्ट काव्य की संरचना करना उसके लिए अधर्म, व्याधि और दण्ड से भी अधिक दोषपूर्ण बताया गया है । यहाँ तक कि उसके लिए वह मृत्यु के समान है ।[1] दुष्ट काव्य के निर्माण से कवि उसी प्रकार से निन्दित होता है, जैसे दुष्ट पुत्र का पिता ।[2] अतः कवि को दोषाभाव के प्रति सदा सावधान रहना चाहिए ।

आचार्य दण्डी के अनुसार दोष का लेशमात्र भी काव्य में होना गर्हित बताया गया है, जिस प्रकार से मानव शरीर कुष्ठ के एक दाग से अशोभनीय तथा निन्दनीय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार से दोषों की योजना से काव्य भी निन्दनीय हो जाता है ।[3] अग्निपुराण में दोष को काव्य - स्वाद में उद्वेगजनक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है ।[4] भामह, दण्डी तथा अग्निपुराण के पश्चात् आचार्य मम्मट ने दोषों का वैज्ञानिक विवेचन किया हैं । इनके, अनुसार मुख्यार्थ का अपकर्ष ही दोष है । मुख्यार्थ से तात्पर्य है - 'रस' से । क्योंकि काव्य में रस ही आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित रहता है । अतः जहाँ रसास्वाद में बाधा उपस्थित हो, वहाँ दोष की स्थिति अवश्यंभावी हो जाती है ।[5] आचार्य अजितसेन ने काव्यापकर्षक हेतु को दोष के रूप में स्वीकार किया है । इस प्रकार अजितसेन

---

1. भा, काव्या0, 1/12
2. वही, 1/11
3. काव्यादर्श - 1/7
4. उद्देगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा । अग्नि पु0, 1/347
5. (क) मुख्यार्थ हतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
   उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ।। का0प्र0 7/46

   (ख) काव्यहीनत्वहेतुर्यो दोषः शब्दार्थगोचरः ।
   अ0चि0, 5/190 का पूर्वार्द्ध

पर मम्मट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । आचार्य विश्वनाथ ने भी मम्मट के ही मत का अनुसरण किया है ।[1]

आचार्य संघरक्षित के अनुसार गुण और अलंकार से युक्त सदोष कन्या की भाँति कविता भी आदरणीय नहीं होती ।[2] अतएव प्रयत्नपूर्वक दोषों से बचने के लिए यत्न करना चाहिए । दोषों के अभाव में कविता स्वयं गुणवती हो जाती है ।[3]

भेद-प्रभेद:-

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दोषों की सर्वप्रथम चर्चा महामुनि भरत के नाट्यशास्त्र में की गयी है । उन्होंने निम्नलिखित दस काव्य दोषों का निरूपण किया है[4] - गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत । इन दोषों में से परवर्ती आचार्य भामह ने एकार्थ दोष, अर्थहीन दोष और विसन्धि दोष को ग्रहण किया तथा अपार्थ दोष को अर्थहीन दोष के रूप में स्वीकार किया । शेष दोषों की उद्‌भावना इन्होंने स्वयं की जो इस प्रकार है[5] -

1. अपार्थ, 2. व्यर्थ, 3. एकार्थ, 4. संशय, 5. अपक्रम, 6. शब्दहीन, 7. यतिभ्रष्ट, 8. भिन्नवृत्त, 9. विसन्धि, 10. देशविरोधी, 11. कालविरोधी, 12. कलाविरोधी, 13. लोक विरोधी, 14. न्याय विरोधी, 15. आगम विरोधी, 16. प्रतिज्ञाहीन, 17. हेतुहीन, 18. दृष्टान्तहीन ।

इसके अतिरिक्त नेय, क्लिष्ट तथा अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत, गूढ़शब्दाभिधान, श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, श्रुतिकष्ट दोषों का भी उल्लेख किया है ।[6]

---

1. रसापकर्षकाः दोषाः । सा0द0, 7/1
2. सुबोधालंकार, 1/14
3. वही, 1/15
4. ना0शा0, 17/88
5. काव्या0 4/1, 2
6. वही, प्रथम परिच्छेद ।

परवर्ती आचार्य दण्डी ने भामह कृत दोषों को अपने काव्य दोषों के रूप में स्वीकार किया है ।[1] आचार्य मम्मट ने पद, पदांश, वाक्य, अर्थ तथा रस में दोषों की स्थिति स्वीकार की है । पद दोषों की संख्या सोलह है । जिनमें क्लिष्ट, अविमृष्ट विधेयांश तथा विरुद्धमति कृत दोष केवल समास में ही होते हैं । च्युत संस्कार, असमर्थ और निरर्थक को छोड़कर शेष दोष वाक्य और पदांश में भी होते हैं । इन्होंने 23 अर्थ दोषों का उल्लेख किया है[2] तथा 21 अन्य वाक्यदोषों को माना है - रस दोषों की संख्या इन्होंने तेरह स्वीकार की है ।[3]

आचार्य अजितसेन शब्द तथा अर्थ की दृष्टि से दोषों को दो भागों में विभाजित किया है - शब्ददोषों को पदगत व वाक्यगत भी स्वीकार किया है। पदगत दोषों की संख्या सत्रह तथा वाक्यगत दोषों की संख्या 24 है । इन्होंने 18 प्रकार के अर्थ दोषों को स्वीकार किया है । इस प्रकार यदि समस्त दोषों का आंकलन किया जाए तो दोषों की संख्या 17 + 24 + 18 = 59 हो जाती है ।[4]

पद दोषः- नेयार्थ, अपुष्टार्थ, निरर्थ, अन्यार्थ, गूढ़पदपूर्वार्थ, विरुद्धाशय, ग्राम्य, क्लिष्ट, अयुक्त, संशय, अश्लील अप्रतीत, च्युत संस्कार, परुष, अविमृष्टकरणीयांश, अयोजक और असमर्थ - इस प्रकार सत्रह पद-दोष हैं ।[5]

अजितसेन कृत उपर्युक्त दोष पूर्ववर्ती आचार्यों से प्रभावित हैं - (1) अपुष्टार्थ दोष को आचार्य मम्मट ने अर्थदोष के अन्तर्गत रखा है किन्तु अजितसेन ने इसे पद दोष के अन्तर्गत निरूपित किया है । (2) आचार्य मम्मट के विरुद्धमति कृत नामक दोष को विरुद्धाशय के नाम से अभिहित किया है । (3) मम्मट

---

1. काव्यादर्श, 3/125-126
2. (क) का0प्र0, 7/50, 51
   (ख) का0प्र0, 7/55, 56 57 (अर्थदोष)
3. (क) का0प्र0, 7/53, 54 (वाक्यदोष)
   (ख) काव्य प्र0, 7/60, 62 (रसदोष)
4. (क) सशब्दार्थगतत्वेन द्वेधा संक्षेपतो मतः ।
   पदवाक्यगतत्वेन शब्दगतोऽपि द्विधा। अ0चि0, 5/190 का उत्तरार्ध
   (ख) वही, 5/209, 210
5. नेयापुष्टिनिरन्यगूढपदपूर्वार्थो विरुद्धाशयं ।
   ग्राम्यं क्लिष्टमयुक्तसंशयगताश्लीलाप्रतीतंच्युत ।।
   संस्कारं परुषाविमृष्टकरणीययांश तथा योजक ।

के संदिग्ध दोष को संशय की अभिधा प्रदान की है । (4) मम्मट द्वारा निरूपित श्रुतिकटु दोष को परुष दोष के रूप में निरूपित किया है । (5) गूढपद पूर्वार्द्ध तथा अयोजक दोष अजितसेन की नवीन कल्पना है ।

अजितसेन के अनुसार पददोष तथा उनका स्वरूपः-

नेयार्थः- अपने संकेत से युत निर्मित अर्थ को नेयार्थ कहते हैं ।

अपुष्टार्थः- प्रकृत में अनुपयोगी अर्थ को अपुष्टार्थ कहते हैं ।

निरर्थकः- केवल पद की पूर्ति के लिए ही जिसका प्रयोग हुआ हो उसे निरर्थक कहते हैं ।

अन्यार्थः- स्पष्ट रूढ़ि से प्रच्युत अर्थ को अन्यार्थ कहा गया है ।

गूढार्थः- जो अप्रसिद्ध अर्थ में कहा गया हो, उसे गूढार्थ कहते हैं ।

विरूद्धाशयः- जो विपरीत अर्थ का बोध कराता है, वह विरूद्धाशय है ।

ग्राम्यः- जो शब्द तुच्छ व्यक्तियों के प्रयोग में प्रसिद्ध है उसे ग्राम्य-दोष कहते हैं ।

क्लिष्टार्थः- जिस पद में अर्थ का निश्चय दूर तक कल्पना करने पर होता हो उसे क्लिष्ट दोष कहते हैं ।

अयुक्तदोषः- जहाँ जो शब्द अप्रयुक्त हो वहाँ अयुक्त दोष होता है । 'प्रमाणाः' ऐसा प्रयोग कवि लोग नहीं करते, यहाँ यह शब्द अप्रयुक्त है अतएव अयुक्त दोष है ।

संदिग्धत्व दोषः- जो अर्थ में सन्देहजनक हो, उसे सन्दिग्धत्व दोष कहते हैं।

अश्लीलत्व दोषः- जुगुत्सा, अमंगल और व्रीडा उत्पादक शब्द जब श्लोक या पद्य में आते हैं तो वहाँ अश्लील दोष माना जाता है - इसके तीन भेद हैं - (1) जुगुप्सा उत्पादक, (2) अमंगल सूचक, (3) व्रीडा उत्पादक ।

अप्रतीतित्व दोषः- जो केवल शास्त्र में ही प्रसिद्ध हो उसे अप्रतीतत्व दोष कहते हैं ।

च्युत संस्कारः- जो व्याकरण के अनुसार अशुद्ध हो उसे च्युत् संस्कार दोष कहते हैं ।

परुषत्वदोषः- जो पद्य कर्कश अक्षरों के योग से निर्मित हो उसे परुषत्व दोष कहते हैं ।

अविमृष्टविधेयांश दोषः- जहाँ विधेय गौण हो जाए वहाँ अविमृष्ट विधेयांश दोष होता है ।

अप्रयोजक दोष :- जहाँ विशेषण से विशेष कुछ न कहा गया हो वहाँ अप्रयोजक दोष होता है ।

असमर्थ दोषः- जहाँ केवल यौगिक से ही प्रयुक्त शब्द हो वहाँ असमर्थत्व नामक दोष होता है ।

वाक्य दोषः-

(1) छन्दश्च्युत, (2) रीतिच्युत, (3) यतिच्युत, (4) क्रमच्युत, (5) अंगच्युत, (6) शब्दच्युत, (7) सम्बन्धच्युत, (8) अर्थच्युत, (9) सन्धिच्युत, (10) व्याकीर्ण, 7।।) पुनरुक्त, (12) अस्थितिसमास, (13) विसर्ग लुप्त, (14) वाक्याकीर्ण, (15) सुवाक्यगर्भित, (16) पतत्प्रोक्तकृष्टता, (17) प्रक्रमभंग, (18) न्यूनपद, (19) उपमाधिक, (20) अधिकपद, (21) भिन्नोक्ति, (22) भिन्नलिंग, (23) समाप्त, पुनरात्त और (24) अपूर्ण ।[1]

आचार्य भामह ने अजितसेन के यतिच्युत को यतिभ्रष्ट, क्रमच्युत को अपक्रम, शब्दच्युत को शब्दहीन तथा सन्धिच्युत को विसन्धि दोष के रूप में स्वीकार किया है । आचार्य अजितसेन ने उपमाधिक तथा भिन्नोक्ति दो नवीन वाक्य दोषों का उल्लेख किया है शेष दोष पूर्ववर्ती आचार्यों से प्रभावित है उनके नामकरण में ही भेद हो सकता है पर सैद्धान्तिक भेद नहीं है ।[2]

वाक्य दोषों का स्वरूपः-

अजितसेन के अनुसार वाक्यदोषों का स्वरूप इस प्रकार है -

(1) **छन्दश्च्युतः** जिस पद्य में छन्द का भंग हो उसे छन्दोभ्रष्ट या छन्दश्च्युत दोष कहते हैं ।

(2) **रीतिच्युतः** जिस पद्य में रस के अनुरूप रीति-पदगठन न हो वहाँ रीतिच्युत नामक दोष होता है ।

---

1. वाक्याकीर्णसुवाक्यगर्भितपतत्प्रोत्कृष्टताप्रक्रम -
भंगन्यूनपरोपमाधिकपदं भिन्नोक्तिलिंगे तथा ।।
समाप्तपुनरात्तं चापूर्णमित्येवमीरिताः ।
चतुर्विंशतिधा वाक्यदोषा ज्ञेयाः कवीश्वरैः ।। अ0चि0, 5/209, 10

2. का0प्र0, 7/53-54 एवं 55 का पूर्वार्द्ध

(3)	यतिच्युतः-	जिस पद्य में यति का भंग हो उसे यतिभ्रष्ट या यतिच्युत दोष कहते हैं ।
(4)	क्रमच्युतः-	जिस पद्य में शब्द या अर्थ क्रम से न हों उसमें क्रमच्युत दोष होता है ।
(5)	अंगच्युतः-	जो पद्य क्रिया पद से रहित हो उसमें अंगच्युत दोष होता है ।
(6)	शब्दच्युतः-	जो अबद्ध शब्दवाला वाक्य हो उसे शब्दच्युत दोष कहते हैं ।
(7)	सम्बन्धच्युतः-	पद्य में समासगत पदों का परस्पर अन्वय जहाँ नही कहा गया हो वहाँ सम्बन्ध च्युत नामक दोष होता है ।
(8)	अर्थच्युतः-	जिस पद्य में आवश्यक वक्तव्य न कहा गया हो उसे वाच्यच्युत या अर्थच्युत कहते हैं ।
(9)	सन्धिच्युतः-	सन्धि का अभाव या विरूप सन्धि को सन्धिच्युत दोष कहते हैं ।
(10)	व्याकीर्णः-	विभक्तियों के आपस में अन्वय व्याप्त रहने पर व्याकीर्ण दोष होता है ।
(11)	पुनरुक्त दोषः-	शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति होने पर पुनरुक्तत्व दोष होता है ।
(12)	अस्थितिसमासः-	जिस पद्य में समास उचित नहीं है वहाँ अपदस्थ समास नामक दोष होता है ।
(13)	विसर्ग लुप्तः-	जहाँ विसर्ग लुप्त को प्राप्त हो वहाँ लुप्तविसर्ग दोष होता है ।
(14)	वाक्याकीर्णः-	दूसरे वाक्य के पद दूसरे वाक्य में व्याप्त हो तो वहाँ वाक्याकीर्ण नामक दोष होता है ।
(15)	सुवाक्यगर्भितः-	जिस वाक्य में दूसरा वाक्य आ पड़े वह सुवाक्यगर्भित दोष है ।
(16)	पतत्प्रकर्षता:-	पद्य में क्रमशः प्रकर्ष शिथिल सा दीख पड़ने वाला दोष है ।
(17)	प्रक्रमभंगः-	पद्य में प्रारम्भ किए हुए किसी नियम का त्याग करने पर होता है ।

(18)	न्यूनोपमदोषः-	उपमेय की उपेक्षा उपमान की न्यूनता जान पड़े तो वहाँ न्यूनोपम दोष होता है ।
(19)	उपमाधिक दोषः-	उपमेय की अपेक्षा उपमान की अधिकता में होता है ।
(20)	अधिकपद दोषः-	किसी वाक्य में अधिक पद होने पर यह दोष होता है ।
(21, 22)	भिन्नोक्ति और भिन्नलिंगः-	उपमा की भिन्नता में भिन्नोक्ति व भिन्न लिंगोक्ति नामक दोष होता है ।
(23)	समाप्तपुनरात्तः-	समाप्त वाक्य को पुनः दूसरे विशेषण से जहाँ कहा जाए वहाँ समाप्तपुनरात्त दोष होता है।
(24)	अपूर्णदोषः-	सम्पूर्ण क्रिया का अन्वय न होने पर होता है।

अर्थ दोषः-

शब्दार्थ की दृष्टि से दोष विवेचन का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य मम्मट को है । इन्होंने 23 प्रकार के अर्थ दोषों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं-[1] (1) अपुष्ट, (2) कष्ट, (3) व्याहत, (4) पुनरुक्त, (5) दुष्क्रम, (6) ग्राम्य, (7) सन्दिग्ध (8) निर्हेतु, (9) प्रसिद्धिविरुद्ध, (10) विद्याविरुद्ध, (11) अनवीकृत, (12) नियम से अनियम, (13) अनियम से नियम, (14) विशेष में अविशेष, (15) अविशेष में विशेष, (16) साकाङक्षता, (17) अपदयुक्तता, (18) सहचर भिन्नता, (19) प्रकाशितविरुद्धता, (20) विध्ययुक्तत्त्व, (21) अनुवादायुक्तत्त्व, (22) व्यक्त पुनः स्वीकृत और, (23) अश्लील ।

आचार्य अजितसेन केवल 18 अर्थ दोषों का ही विवेचन किया है ।[2] अजितसेन ने मम्मट द्वारा निरूपित निर्हेतु को हेतुशून्य, सन्दिग्ध को संशयाढ्य तथा दुष्क्रम को अक्रम के रूप में स्वीकार किया है । अजितसेन ने अतिमात्र, सामान्य या साम्य, क्षमताहीन तथा विसदृश नामक नवीन अर्थ दोषों का वर्णन किया है जिसका उल्लेख मम्मट ने नहीं किया । आचार्य अजितसेन द्वारा निरूपित अर्थ दोष निम्नलिखित हैं -

---

1. का0प्र0, 7/55, 56, 57
2. अ0चि0, 5/235

(1) एकार्थ, (2) अपार्थ, (3) व्यर्थ, (4) भिन्न, (5) अक्रम, (6) परुष, (7) अलंकारहीनता, (8) अप्रसिद्ध, (9) हेतुशून्य, (10) विरस, (11) सहचर भ्रष्ट, (12) संशयाख्य, (13) अश्लील, (14) अतिमात्र, (15) विसदृश, (16) समताहीन, (17) सामान्य साम्य, (18) विरुद्ध ।

अर्थदोषों का स्वरूपः-

(1) **एकार्थः-** कहे हुए अर्थ से जो भिन्न न हो, उसे एकार्थ दोष कहते हैं ।

(2) **अपार्थः-** जो पद्य वाक्यार्थ से रहित हो, उसे अपार्थ कहते हैं ।

(3) **व्यर्थः-** जो प्रयोजन से रहित वाक्यार्थवाला हो, उसे व्यर्थ दोष कहते हैं ।

(4) **भिन्नार्थः-** जो परस्पर सम्बन्ध से रहित वाक्यार्थ वाला हो, वह भिन्नार्थ है ।

(5) **अक्रमार्थः-** जिस वाक्यार्थ में पूर्वापरका क्रम ठीक न हो उसे अपक्रमार्थ दोष कहते हैं ।

(6) **परुषार्थ दोषः-** जो अत्यन्त क्रूरता से युक्त हो, वह परुषार्थ दोष है ।

(7) **अलंकारहीनार्थः-** अलंकार से परिव्यक्त अर्थ को निरलंकार्थ दोष कहते हैं ।

(8) **अप्रसिद्धोपमार्थः-** जिस वाक्य में उपमान अप्रतीत अर्थात् अप्रसिद्ध हो उसे अप्रसिद्धोपम दोष कहते हैं ।

(9) **हेतुशून्य दोषः-** जहाँ अर्थ का कथन कारण बिना हो, वहाँ हेतुशून्य दोष होता है ।

(10) **विरस दोषः-** जहाँ अप्रस्तुत रस का कथन हो उसे विरस दोष कहते हैं ।

(11) **सहचरभ्रष्टः-** जिस वाक्यार्थ में सदृश पदार्थ का उल्लेख न हुआ हो वहाँ सहचर भ्रष्ट नामक दोष होता है ।

(12) **संशयाख्यः-** वाक्य के अर्थ में सन्देह होने पर संशयाढ्य दोष होता है ।

(13) **अश्लीलः-** जिसमें प्रधानतया दूसरा अर्थ लज्जाजनक हो उसे अश्लील दोष कहते हैं ।

(14)	अतिमात्रः-	जो सभी लोकों में असंभव हो वह अतिमात्र दोष है ।
(15)	विसदृशः-	जहाँ उपमान असदृश हो वहाँ विसदृशोपम दोष होता है ।
(16, 17)	समताहीन और सामान्य साम्यः-	जहाँ उपमान उपमेय की अपेक्षा बहुत अपकृष्ट या उत्कृष्ट हो वहाँ हीनाधिक्योपमान या समताहीन दोष होता है ।
(18)	विरुद्धः-	दिशा इत्यादि से प्रायः जो विरुद्ध प्रतीत हो उसे विरुद्ध दोष कहते हैं ।

परवर्ती काल में आचार्य विद्यानाथ ने अजितसेन द्वारा निरूपित उक्त अर्थदोषों को सादर स्वीकार कर लिया ।[1]

इसके अतिरिक्त आचार्य अजितसेन ने देश विरुद्ध लोक विरुद्ध, आगम विरुद्ध, स्ववचन विरुद्ध, प्रत्यक्ष विरुद्ध, अवस्था विरुद्ध, दोषों का भी उल्लेख किया है ।[2] उपर्युक्त दोषों का निरूपण करने के अनन्तर इन्होंने नाम दोष का उल्लेख किया है जहाँ इन्होंने स्व शब्द से वाच्य रसों और भावों के कथन को दोष बताया है ।[3]

दोषों की गुणताः-

आचार्य अजितसेन ने दोषों की गुणता पर भी विचार करते हुए बताया कि काव्य में रहने वाले दोष कभी - कभी गुण हो जाते हैं । जैसे चित्रकाव्य में परुष वर्णों का नियोजन ।[4] यमक, श्लेष और चित्रकाव्य तथा दो अक्षरों से निबन्ध रचना में क्लिष्ट, असमर्थ और नेयार्थ दोष नहीं माने जाते ।[5] कामशास्त्र में लज्जोत्पादक अश्लील वर्णन होने पर भी दोष नहीं होता ।[6] वैराग्य में जुगुप्सा

---

1. प्रताप0, पृ0 362
2. अ0चि0, 5/254 से 256 तक
3. दोषस्तु रसभावानां स्वस्वशब्दग्रहाद् यथा ।
   श्रृंगारमधुरां तन्वीमालिलिंग घनस्तनीम् ।। अ0चि0 5/57
4. वहीं, 5/62
5. वहीं, 5/63
6. वहीं, 5/64

रूप अश्लीलता की अदोषता स्वीकार की गयी है ।[1] विस्मय के अर्थ में पुनरुक्तता दोष नहीं होता ।[2]

गुण-विवेचन:-

आचार्य भरत ने दोषों का निरूपण करते हुए कहा है कि दोषों के विपरीत जो कुछ वस्तु है, वह गुण है ।[3] अग्निपुराणकार का कथन है कि काव्य में अत्यधिक शोभा को जन्म देने वाली वस्तु शब्द गुण है ।[4] शब्द प्रतिपाद्य जिस किसी वस्तु को उत्कृष्ट बनाने वाली चीज अर्थगुण है[5] और शब्द तथा अर्थ दोनों का जो उपकारक हो, वह शब्दार्थोभय गुण कहा जाता है ।[6] आचार्य दण्डी के अनुसार 'गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं' ।[7] आचार्य वामन ने गुण का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'काव्यशोभाकारक धर्म गुण है' ।[8]

आचार्य वामन ने कहा है कि काव्य - शोभा के जन्मदायक धर्म गुण है और उस शोभा को अतिशयित करने वाला धर्म अलंकार है ।[9]

आचार्य मम्मट के अनुसार आत्मा के शौर्यादि के समान काव्य में अंगीभूत रस के उत्कर्षाधायक धर्म गुण हैं । काव्य में इनकी अचल स्थिति स्वीकार की गयी है ।[10]

आचार्य अजितसेन ने गुणों के स्वरूप का उल्लेख नहीं किया है अपितु इनके भेदों का ही उल्लेख किया है अतः गुणों के भेद के विषय में विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा ।

---

1. वही, 5/65
2. वही, 5/66 पृ0 297 से 298 तक ।
3. एत एवं विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः । ना0शा0, 17/95 का उत्तरार्ध
4. यः काव्ये महतीं छायामनुगृहणाति असौ गुणः । अ0पु0, अ0-346/3
5. अ0पु0, 346/11
6. वही, 346/18
7. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणादश गुणाःस्मृताः । का0द0, 1/42
8. काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः । अ0सू0, 3/1/1
9. काव्यशोभायाः कर्तारोगुणाः तदतिशयेहतवस्त्वलंकाराः । अ0सू0, 3/1/1 व 2
10. ये रसस्यागिंनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
    उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयोः गुणाः ।। का0प्र0, 8/66

आचार्य भरत ने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति ये दश गुण माने हैं ।[1]

अग्निपुराणकार ने श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सती और योगिकी ये सात शब्दगुण, माधुर्य संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि और सामयिकत्व ये छः अर्थगुण, एवं प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, उदारता, पाक और राग ये छः उभयगुण-अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों के गुण मिलकर उन्नीस गुण बतलाए हैं ।[2]

वामन ने प्राचीन मत के अनुसार गुणों का विशद विवेचन किया है इनके मत में गुणों की संख्या बीस है जिसमें दश शब्द गुण तथा दश अर्थगुण है। जो नाम शब्द गुण के हैं वही अर्थगुणों के भी रखे गए हैं किन्तु लक्षणों में भेद है । वे दश गुण हैं - श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि ।[3]

भोजराज ने वामन के दश शब्दगुणों को स्वीकार कर, उदात्तता, अर्जितता, प्रेयान्, सुशब्दता, सूक्ष्मता, गाम्भीरता, विस्तर, संक्षेप, संमितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि - इन चौदह अन्य गुणों को मानकर इनकी संख्या 24 कर दी ।[4]

आचार्य अजितसेन ने भोज द्वारा निरूपित उक्त 24 गुणों को स्वीकार

---

1. ना0शा0 17/96

2. श्लेषोलालित्यगाम्भीर्य सौकुमार्यमुदारता ।
सत्येव यौगिकी चेतिगुणाः शब्दस्य सप्तधा ।।
माधुर्य संविधानं चकोमलत्वमुदारता ।
प्रौढिः सामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति ।।
तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यमुदारता ।
पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चा प्रपञ्चिता : ।।
अ0पु0, उद्धृत - रसगंगाधर प्रस्तावना, व्याख्याकार- पं0 मदन मोहन झा

3. श्लेषः प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ।।
अ0सू0, उद्धृत - रसगंगाधर-प्रस्तावना, व्या0 मदन मोहन झा

4. स0क0भ0 1/63, 64, 65

कर लिया है[1] इनके निरूपण क्रम में किंचित् अन्तर अवश्य है इन्होंने प्रत्येक गुण के लक्षण तथा उदाहरण भी प्रस्तुतत किए है ।[2]

अजितसेन के अनुसार गुणों का स्वरूप:-

(1) श्लेष, (2) भाविक, (3) सम्मितत्व, (4) समता, (5) गाम्भीर्य, (6) रीति, (7) उक्ति, (8) माधुर्य, (9) सुकुमारता, (10) गति, (11) समाधि, (12) कान्ति, (13) और्जित्य, (14) अर्थव्यक्ति, (15) उदारता, (16) प्रसदन, (17) सौक्ष्म्य, (18) ओजस्, (19) विस्तर, (20) सूक्ति, (21) प्रौढ़ि, (22) उदात्तता, (23) संक्षेपक और (24) प्रेयान् ।

(1) **श्लेष:-** जहाँ अनेक पदों की एक पद के समान स्पष्ट प्रतीति हो वहाँ श्लेष गुण होता है ।

(2, 3) **भाविक और सम्मितत्व:-** जहाँ वाक्य भाव से रहे उसे भाविक कहते हैं । जितने पद उतने ही अर्थ जिसमें समाहित हो उसे सम्मितत्व कहते हैं ।

(4) **समता:-** रचना में विषमताहीन कथन को समता कहते हैं ।

(5, 6) **गाम्भीर्य और रीति:-** ध्वनिमत्व को गाम्भीर्य कहते हैं और प्रारब्ध की पूर्तिमात्र को रीति कहते हैं ।

(7) **उक्ति:-** जो काव्यकुशल कवियों की भणिति है उसे उक्ति कहते हैं ।

(8) **माधुर्य:-** पढ़ने के समय और वाक्य में भी जो पृथक्-पृथक् पद से प्रतीत होते हैं विद्वानों ने उन्हें माधुर्य गुण कहा है ।

(9) **सुकुमारता:-** अनुस्वार सहित अक्षरों की कोमलता को सुकुमारता कहते हैं ।

(10) **गति:-** जहाँ स्वर के आरोह-अवरोह दोनों ही सुन्दर हों, वहाँ गति नामक गुण होता है ।

(11) **समाधि:-** जहाँ दूसरे धर्म का दूसरी जगह आरोप किया जाये वहाँ समाधि गुण होता है ।

---

1. अ0चि0, 5/269
2. वही, पृ0 299 से 308 तक ।

(12)	कान्तिः-	काव्य में रचना की अत्यन्त उज्ज्वलता को कान्तिगुण कहते हैं ।
(13)	और्जित्यः-	दृढबन्धता को और्जित्य कहते हैं ।
(14)	अर्थव्यक्तिः-	जहाँ दूसरे वाक्य की अपेक्षा न रखने पर वाक्य पूर्ण हो जाये उसे अर्थव्यक्ति कहते हैं ।
(15)	औदार्यः-	विकट अक्षरों की बन्धता को औदार्य कहते है ।
(16)	प्रसादः-	शब्द और अर्थ की प्रसिद्धि तथा झटिति अर्थ को समझा देने की क्षमता को प्रसाद गुण कहते हैं ।
(17, 18)	सौक्ष्म्य और ओजः-	शब्दों के गुण, रीति के कथन को सौक्ष्म्य कहते हैं तथा जिसमें समास की बहुत अधिकता हो उसे स्पष्टतया ओजगुण कहते हैं ।
(19)	विस्तरः-	किसी विषय के समर्थन के लिए कथित अर्थ के विस्तार को विस्तर कहते हैं ।
(20)	सूक्तिः-	तिङ् और सुप् के उत्तमज्ञान को सौशब्द्य कहते हैं ।
(21)	प्रौढ़िः-	अपने कथन के सम्यक् परिपाक को प्रौढ़ि कहते हैं ।
(22)	उदात्तताः-	जहाँ प्रशंसनीय विशेषणों से पद युक्त होते है वहाँ उदात्तता नामक गुण होता है ।
(23)	प्रेयान्ः-	अत्यन्त अनुनयमय वचनों से जहाँ कोई प्रिय पदार्थ प्रतिपादित हुआ हो वहाँ प्रेयान् गुण होता है ।
(24)	संक्षेपकः-	जहाँ किसी अभिप्राय को बहुत संक्षेप से कहा जाये वहाँ संक्षेप नामक गुण होता है ।

कतिपय गुणों का दोष परिहारार्थ परिगणनः-

आचार्य अजितसेन ने उपर्युक्त गुणों में से कतिपय गुणों को दोषों के अभाव के रूप में स्वीकार किया है जो निम्नलिखित है-[1]

---

1. अ०चि०, 5/272, 75, 77, 84, 91, 92, 97, 303, 307, 308, 309

गुण	दोष के अभाव के रूप में
सम्मितत्व	न्यूनाधिक दोष के परिहारार्थ
समता	प्रकरान्ति दोष के अभाव के रूप में
रीति	पतत्प्रकर्ष दोष के परिहारार्थ
सुकुमारता	श्रुतिकटुत्वदोष के अभाव रूप
और्जित्य	विसन्धि दोष की निवृत्ति के लिए
अर्थव्यक्ति	अपुष्ट दोष को दूर करने के लिए
प्रसाद	क्लिष्ट दोष की निवृत्ति के लिए
औदार्य	आचार्य वाग्भट के अनुसार अर्थचारूता के नियोजन के लिए इसका प्रयोग होता है । (इति वाग्भटोक्तिरपीष्टा अ0चि0 पृ0 305)
सूक्ति	च्युत संस्कार दोष की निवृत्ति के लिए
उदात्तता	अनुचितार्थत्व दोष निवृत्ति के लिए वाग्भट इसका अन्तर्भाव औदार्य में मानते हैं । (उदात्तत्वमौदार्येऽन्तर्भवति वाग्भटाद्यपेक्षया । अ0चि0 पृ0 308)
प्रेयान्	पारूष्य दोष की निवृत्ति के लिए ।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त शेष गुण काव्य के उत्कर्षाधायक के रूप में स्वीकार किए गए हैं ।

आचार्य भामह, मम्मट तथा पण्डितराज, जगन्नाथ, माधुर्य, ओज तथा प्रसाद रूप से गुणों की संख्या तीन ही स्वीकार करते हैं ।[1] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मम्मट से पूर्व गुण निरूपण सम्बन्धी विचारधाराएँ प्रायः असमान थीं । किन्तु मम्मट के पश्चात् यह विचारधारा स्थिर सी हो गयी यही कारण है कि मम्मट से पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने माधुर्य, ओज एवं प्रसाद इन तीन गुणों को ही स्वीकार किया है ।

---

1. (क) भा0, काव्या; 2/1, 2

(ख) माधुर्यौज:प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश । का0प्र0, 8/68 का पूर्वाद्ध

(ग) अतस्त्रय एव गुणा इति मम्मटभट्टादयः ।
र0गं0, प्रथम आनन, पृ0 255

आचार्य अजितसेन ने कवि, गमक, वादी और वाग्मी के स्वरूप का भी उल्लेख किया है ।

अभिनव रचना करने वाले को कवि, कृति के समालोचक को गमक, विजय वाणी से जीविका करने वाले को वादी तथा व्याख्यान कला से जनता को मुग्ध करने वाले को वाग्मी कहा है ।[1]

---

1. कविर्नूतनसंदर्भो गमकः कृतिभेदकः ।
वादी विजयवाग्वृत्तिर्वाग्मी तु जनरञ्जनः ।। अ0चि0, 5/305

नायक - नायकादि विमर्श

नायक के सामान्य गुण

समाज में सम्माननीय तथा सर्वश्रेष्ठ चरित्रवान, विद्वान, सत्यवादी और सौन्दर्यवान व्यक्ति का ही विशेष समादर होता है अतः काव्य में उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को ही नायक की कोटि में रखा जाता है । रामायण तथा महाभारत के पात्रों में प्रायः उपर्युक्त गुण सम्पन्न व्यक्ति देखे जा सकते हैं । उन्हीं के आधार पर लक्षण ग्रन्थों का निर्माण हुआ अतः इन्ही लक्षण ग्रन्थों में निरूपित नायक नायिकादि के स्वरूप पर दृष्टिपात् किया जा रहा है ।[1]

नाट्यशास्त्र में रूपकों का भेद नायक के आधार पर विहित है । अतः सर्वप्रथम नायक के गुणों पर विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा । आचार्य अजित सेन के अनुसार माधुर्य, शौच, स्मृति, धृति-धैर्य, विनय, वाग्मिता, उत्साह, मान, तेज, धर्म, दृढ़ता, मधुरभाषण, प्राज्ञता-विद्वता, दक्षता, त्यागशीलता, लोकप्रीति, मति-बुद्धिमत्ता, कुलीनता, सत्कलाविजेता, शास्त्रार्थ की क्षमता, सुभाषिज्ञता, तारूण्य आदि गुण नायक में होते हैं ।[2] इनके द्वारा निरूपित नायक गुणों का उल्लेख किंचित् अन्तर के साथ पूर्ववर्ती आचार्य धनञ्जय तथा परवर्ती विद्यानाथ, अमृतानन्द योगी आदि ने भी किया है ।[3]

आचार्य अजितसेन ने धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त, तथा धीरोद्धत्त रूप से नायक के चार भेदों का उल्लेख किया है ।[4] उपर्युक्त प्रत्येक नायक को पूर्व पंक्तियों में वर्णित नायक के गुणों से प्रायः युक्त होना चाहिए । इन नायकों में भेद व्यवस्था रस की दृष्टि से भिन्नता होने के कारण की गयी है -

धीरोदात्त नायकः-

अजितसेन के अनुसार - दयालु, घमण्ड रहित, क्षमाशील, अविकत्थन-

---

1. कविर्नूतनसंदर्भो गमकः कृतिभेदकः ।
   वादी विजयवाग्वृत्तिर्वाग्मी तु जनरञ्जनः ।।. अ0चि0, 5/305
2. अ0चि0, 5/312
3. (क) द0रू0, 2/1, 2
   (ख) प्रताप0, नायक प्रकरण, श्लोक - ।।
   (ग) अ0सं0, 4/1, 2
4. अ0चि0, 5/313

अपने मुँह से अपनी प्रशंसा न करने वाला, अतिबलशाली, अत्यन्त गम्भीर धीरोदात्त नायक होता है ।[1] ।

पूर्ववर्ती आचार्य धनञ्जय तथा परवर्ती आचार्य विद्यानाथ, अमृता नन्दयोगी तथा विश्वनाथ की परिभाषाएँ प्रायः समान हैं ।[2]

धीरललित नायकः-

प्रायः चिन्तारहित रहता है । विविध कलाओं के प्रति उसकी अभिरुचि रहती है । मानो इसीलिए वह सुखी भी रहता है ।[3] आचार्य अजितसेन ने यह भी बताया है कि उसके कार्य की देखभाल निपुण मन्त्री अमात्यादि करते हैं । इसलिए वह निश्चिन्त रहकर ललित कलाओं के प्रति आसक्त रहकर सुखमय जीवन व्यतीत करता है[4]

धीरशान्त नायकः-

"धीरप्रशान्त या धीरशान्त नायक पूर्वोल्लिखित विनीतिता आदि गुणों से युक्त ब्राह्मण, वणिक् तथा सचिव आदि होते हैं[5] ।" दशरूपककार की भी यही मान्यता है[6] । आचार्य अजितसेन के अनुसार कला, मृदुता, सौभाग्य, विलास, शुचिता से सम्पन्न, रसिक तथा सुप्रसन्न और सुखी नायक को धीरशान्त के रूप में स्वीकार किया गया है[7] । इन्होंने जातिगत तथा कर्मगत भेदों के आधार पर इसका विभाजन नहीं किया । जैसा कि इनके पूर्ववर्ती आचार्य दशरूपककार ने किया है अनुसन्धात्री के अनुसार किसी भी जाति का व्यक्ति यदि उक्त गुणों से सम्पन्न है तो उसे धीरशान्त

---

1. दयालुरनहंकारः क्षमावानविकत्थनः ।
   महासत्वोऽतिगम्भीरो धीरोदात्तः स्मृतोयथा ।। अ०चि०, 5/314
2. (क) द०रू०, 2/4, (ख) प्रताप० श्लोक 28, (ग) अ०सं०, 4/4, (घ) सा०द०, 3/32
3. (क) ना०द०, 1/9, (ख) द०रू०, 2/3
4. कलासक्तः सुखी मन्त्रिसमर्पित निजक्रियः ।
   भोगी मृदुरचिन्तोय सः धीरललितो यथा ।। अ०चि०, 5/316
5. संस्कृतरूपको के नायक, नाट्यशास्त्रीय विमर्श, ले० डॉ० राजदेव मिश्र, पृ० 77
6. (क) द०रू०, 2/4, विप्रवणिक्सचिवादीनां प्रकरणनेतृणामुपलक्षणम् । धनिक-वृत्ति।
7. कलामार्दवसौभाग्यविलासी च शुचिः सुखी ।
   रसिकः सुप्रसन्नो यो धीरशान्तो मतो यथा ।। अ०चि०, 5/318

नायक की कोटि में स्वीकार करने में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

धीरोद्धत्त नायक:-

धीरोद्धत नायक छल-कपट द्वारा कार्य सिद्धि का प्रयत्न करता है आत्म प्रशंसा में लीन मायादि के प्रयोग से मिथ्या वस्तु के उत्पत्ति करने वाला, प्रचण्ड, चपल तथा अहंकारी होता है[1] ।

अजितसेन कृत परिभाषा भी धनञ्जय के समान ही[2] है। किन्तु साहित्यसार के रचयिता उद्धत को नायक के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं[3] ।

'उपर्युक्त सभी नायकों में धीर शब्द के उल्लेख से यह विदित होता है कि कोई भी नायक भले ही लालित्य औदात्य प्रशान्तता तथा औद्धत्यादि शील सम्पदाओं में से किसी एक से विभूषित हो सकता है पर प्रत्येक नायक का धीर होना आवश्यक है । यह धीरता ही पात्र को नायक पद की मर्यादा से विभूषित करती है[4] ।'

आचार्य अजितसेन ने पुनः श्रृंगार रसानुसार प्रत्येक नायक के दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल इन चार भेदों का उल्लेख किया है ।[5] इस प्रकार नायक के (4×4 = 16) सोलह भेद हो जाते हैं । इन नायकों का स्वरूप इस प्रकार है -

दक्षिण	-	अत्यन्त सौम्य
शठ	-	अप्रिय प्रीति कारक
धृष्ट	-	अपराधी होने पर भी भयरहित
अनुकूल	-	स्वप्रियतमा के आधीन

---

1. (क) द०रू०, 2/5, (ख) सा०द०, 3/33
2. चपलो वञ्चको दृप्तश्चण्डो मात्सर्यमण्डितः ।
   विकत्थनो ह्यसौ नेता मतो धीरोद्धतो यथा ।। अ०चि०, 5/320
3. सा०सा०, 11/2 - त्रेधा नेता प्रकीर्तिता ।
   उद्धृत - संस्कृत रूपकों के नायक, ना०शा० विमर्श लें०, डॉ० राजदेव मिश्र, पृ० - 78
4. वही, पृ० - 79
5. अ०चि०, 5/322-23

इन भेदों के सम्बन्ध में प्रायः सभी आचार्यों के विचार समान हैं ।[1] प्रत्येक नायक के उत्तम, मध्यम तथा अधम - तीन कोटियाँ होती हैं । अतः (16×3 = 48) नायक के कुल 48 भेद हो जाते हैं ।[2] इसके अतिरिक्त इन्होंने नायक के सहायकों का भी उल्लेख किया है[3] जो इस प्रकार है -

(1) **विदूषकः** - नायक को प्रसन्न रखने वाला तथा हसाने वाला होता है ।

(2) **विटः** - नायक के भीतरी प्रेम व अनुकूलता को जानने में सक्षम होता है ।

(3) **पीठमर्दः** - नायक से कुछ कम गुण वाला तथा कार्य में कुशल होता है ।

(4) **प्रतिनायकः** - लोभी, धीर, उद्दण्ड, अस्तब्ध तथा महापापी ।

इसके अतिरिक्त इन्होंने नायक के सात्विक गुणों का भी उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैं -[4]

गम्भीरता, स्थिरता, मधुरता, तेज, शोभा, विलास, औदार्य और लालित्य।

गम्भीरताः -

क्षुब्धावस्था में भी प्रभाव के कारण जो विकृति का अभाव है उसे गम्भीरता कहते हैं ।

स्थैर्य माधुर्य और तेजः -

महान विघ्न के उपस्थित हो जाने पर भी कार्य से विचलित न होने को स्थैर्य कहते हैं । सूक्ष्म कलाओं के संचय, प्रत्यक्ष और तर्कज्ञान को माधुर्य कहते हैं । प्राणनाश के समय भी धिक्कार को नहीं सह सकने को तेज कहते हैं ।

---

1. (क) द0रू0, 2/6, 7 (ख) प्रताप0 नायक प्रकरण, श्लोक 34
2. (क) अ0चि0, 5/328 तथा 5/329 का पूर्वार्द्ध
   (ख) द0रू0 द्वितीय प्रकाश (ग) सा0द0, 3/38
3. विदूषकोविटः पीठमर्दो नेतृसहायकाः ।।
   अ0चि0 5/329 का उत्तरार्ध, द्र0 5/330, 31
4. अ0चि0, 5/332
   द्र0 5/333 से 36 तक ।

शोभा, विलास: -

दक्षता, शूरता तथा नीच कर्मों से घृणा को शोभा कहा गया है । हास्यपूर्वक कथन, धैर्य तथा प्रसन्न दृष्टिपात विलास के गुण हैं ।

औदार्य: -

दान या अदान के आधिक्य को औदार्य की अभिधा प्रदान की गयी है ।

लालित्य: -

मदु तथा शृंगारिक चेष्टाओं को ललित के रूप में स्वीकार किया गया है ।

उपर्युक्त गुण दशरूपक से प्रभावित हैं ।[1]

नायिकाओं के भेद तथा स्वरूपादि का निरूपण: -

नायक के स्वरूप तथा भेद निरूपण के पश्चात् पूर्वोक्त नायक के गुणों से युक्त नायिकओं के भेद तथा स्वरूप का निरूपण किया जाना आवश्यक हो जाता है । आचार्य अजितसेन ने स्वकीया, परकीया और सामान्या रूप से नायिकओं को तीन भागों में विभजित किया है ।[2]

परकीया को अन्योढा और कन्या - दो भागों में विभाजित किया है।[3] वेश्या को सामान्यतया साधारण स्त्री के रूप में वर्णित किया है ।[4] स्वकीया नायिका के मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा इन तीन भेदों का उल्लेख भी किया है । मध्या नायिका के धीरा, अधीरा और धीरा-धीरा तीन अन्य भेद भी किए हैं । प्रगल्भा नायिका के भी मध्या नायिका के समान भेद किए गए हैं । पुनः मध्या व प्रगल्भा के ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा भेद भी किए गए हैं । अतः नायिकओं के कुल 13 भेद हो जाते हैं । जो इस प्रकार हैं -

---

1. दशरूपक, 2/10
2. अ०चि०, 5/337
3. अ०चि०, 5/339
4. वही, 5/42

मुग्धा (केवल एक प्रकार) 1
मध्या (धीरा, अधीरा, धीराधीरा) × (ज्येष्ठा, कनिष्ठा) 6
प्रगल्भा (धीरा, अधीरा, धीराधीरा) × (ज्येष्ठा कनिष्ठा) 6

स्वकीयाः- शीलवती लज्जायुक्त तथा पतिव्रता होती है ।

परकीयाः-

(क) अन्योढ़ाः- अन्य परिणीता श्रृंगार से अधिक सुसज्जित रहती है ।

(ख) कन्याः- श्रृंगार में अधिक प्रेम नहीं रखती ।

साधारण स्त्रीः-

धन देने वाले नायक के प्रति प्रीति रखती है ये सभी की स्त्री हो सकती है, जनानुरञ्जन ही इसका प्रधान कार्य है ।

मुग्धाः- नूतन काम वासना वाली नायिका जो रति आदि में असहमति व्यक्त करती है ।

मध्याः- मनोभावों को छिपाने वाली तथा रतिकाल में मोहित होने वाली ।

प्रगल्भाः- अत्यन्त प्रस्फुटित काम वाली को प्रगल्भा कहते हैं ।

धीरामध्याः- यातायात के परिश्रम से श्रान्त शरीर वाली धूल से रंगी हुई आंखों वाली रति के प्रति उदासीन ।

मध्या अधीराः- गिरते हुए आंसुओं से और क्रुद्ध वचनों से नायक को कष्ट पहुँचाने वाली होती है ।

मध्या धीराधीराः-

नायक के चित्र को बार-बार जलाने वाली तथा बाद में कोपशान्ति पर रोने वाली होती है ।

प्रगल्भा धीराः-

अपराधी नायक को सुरत सुख से वंचित कर देती है ।

प्रगल्भा अधीराः-

प्रियतम को कष्ट पहुँचाती है क्रोध को सफल करती है ।

प्रगल्भा धीराधीराः -

रहस्यपूर्ण कुटिल शब्द का प्रयोग करती है ।

नायिकाओं के उपर्युक्त भेद का प्रतिपादन अलंकार चिन्तामणि में श्लोक 5/337 से 5/360 तक किया गया है । इन भेदों पर दशरूपककार का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।[1]

उपर्युक्त नायक-नायिकाओं के भेद निरूपण के पश्चात् आचार्य अजित सेन ने नायिकाओं के अन्य आठ भेदों का उल्लेख किया है जो प्रायः सभी नायिकाओं में साधारण रूप से प्राप्त होते हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं[2]-

स्वाधीनपतिका वासकसज्जिका, कलहान्तरा, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, विरहोत्कण्ठिता तथा अभिसारिका ।

उपर्युक्त आठ प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख नाट्य शास्त्र में भी प्राप्त होता है ।[3]

स्वाधीनपतिकाः -

सदा पति के समीप और अधीन रहने वाली नायिका को स्वाधीनपतिका कहते हैं ।

वाकसज्जिकाः -

प्रियतम के आगमन को सुनकर स्वयं को सजाने-संवारने वाली नायिका को वासकसज्जिका कहते हैं ।

कलहान्तरिताः -

अपने प्रियतम को पास से हटाकर पश्चात् जो अफसोस करती है, उसे कलहान्तरिता नायिका कहते हैं ।

---

1. द०रू०, 2/14 उत्तरार्द्ध से 2/22 तक
2. अ०चि०, 5/361, 62
   द्र० 5/363 से 375 तक
3. ना०शा०, 24/203, 204

खण्डिता:-

प्रियतम को परनायिका के साथ उपभोग करने से लगे हुए चिन्ह को देखकर नायक के ईर्ष्या करने वाली नायिका को खण्डिता कहते हैं ।

विप्रलब्धा:-

प्रिय के द्वारा किये गए संकेत या आगमन से ठगी हुई नायिका को विप्रलब्धा नायिका कहते हैं ।

प्रोषितभर्तृका:-

जिसका प्रिय परदेश गया हो, उसे प्रोषितभर्तृका कहते हैं ।

विरहोत्कण्ठिता:-

वस्तुतः किसी कारणवश पति के परदेश में विलम्ब करने पर विरह से उत्कण्ठित नायिका विरहोत्कण्ठिता नायिका कहलाती है ।

अभिसारिका:-

प्रियतम के पास में जाने या उसे बुलाने की इच्छावाली नायिका को अभिसारिका कहते हैं ।

अजितसेन द्वारा निरूपित उक्त आठ नायिका भेद आचार्य धनञ्जय एवं आचार्य विश्वनाथ से प्रभावित है ।[1]

परवर्ती काल में आचार्य विद्यानाथ ने अजितसेन द्वारा निरूपित उक्त नायिका भेदों को स्वीकार कर लिया ।[2]

नायिकाओं की दूतियाँ:-

सन्यासिनी, शिल्पिनी, दासी, धात्री, पड़ोसिन, धोबिन, नाइन, तम्बोलिन इत्यादि सखियाँ इन नायिकाओं के दौत्य कार्य को सम्पादित करती हैं । इनके

---

1. (क) द०रू०, 2/23 से 27 तक
   (ख) सा०द०, 3/75 से 86 तक

2. प्रताप०, नायक प्रकरण, श्लोक - 41, 42

अभाव में नायिका स्वयं दूती का कार्य करती हैं ।[1] अमृतानन्दयोगी भी अजित सेन के विचारों से सहमत हैं । दशरूपककार का भी यही विचार है ।[2]

स्त्रियों, के 20 अलंकार स्वीकार किए गए हैं जो युवावस्था में सात्विक भाव से उत्पन्न होते हैं । इनमें भाव-हाव-हेला, तीन को आंगिक अलंकार के रूप में स्वीकार किया गया है[3] ।

शोभा, कान्ति दीप्ति, प्रगल्भता, माधुर्य, धैर्य और औदार्य, लीला, विलास ललित, किलकिंचत, विभ्रम कुट्टमित मोट्टायित विब्बोक विहृत तथा सत्वज, भाव-हाव, हेला ये 20 अलंकार हैं ।

उपर्युक्त गुणों में से भाव, हाव तथा हेला को आंगिक अलंकार के रूप में स्वीकार किया गया है ।

शोभा, कान्ति, दीप्ति माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य ये सात अयत्न समुद्भूत हैं ।

शेष दश स्वाभाविक अलंकार के रूप में स्वीकार किए गए हैं ।

इनका स्वरूप इस प्रकार है[4]-

भावः- मन की वृत्ति को सत्व और विशेष को विकृतिच्युति तथा भविष्य में शोभा बढ़ाने वाली प्रभृति विकृति को भाव कहते हैं ।

हावः- मन से उत्पन्न स्त्रियों के विविध श्रृंगार को भाव और काम से उत्पन्न आंख या भौहों के विकार को हाव कहते हैं ।

हेलाः- श्रृंगार के प्रकाशक व्यक्त हाव ही हेला है ।

---

1. लिंगिनी शिल्पिनी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी ।
   कारूः सख्यो सुदूत्यः स्युस्तदभावे स्वयंमता ।। अ0चि0, 5/376
2. (क) अ0सं0, 4/40
   (ख) द0रू0, 2/29, (ग) प्रताप0 नायक प्रकरण, श्लोक - 55
3. अ0चि0, 5/377, 378, 379
4. अ0चि0, 5/380 से 5/402 तक ।

शोभा:- रूप और तरूणाई से अंगों के अलंकरण को शोभा कहते हैं ।

कान्तिः- अत्यन्त राग और रस से परिपूर्ण शोभा ही कान्ति है ।

दीप्तिः- अत्यन्त विस्तृत हुई कान्ति 'दीप्ति' है ।

प्रागल्भ्यः- लज्जा से उत्पन्न भय के त्याग को प्रगल्भता कहते हैं ।

माधुर्यः- प्रशंसनीय वस्तुओं के योग न रहने पर भी रम्यता को माधुर्य कहते हैं ।

धैर्यः- अचंचल मनोवृत्ति को धैर्य कहते हैं ।

औदार्यः- बहुत परिश्रम करने पर भी सदा विनय भाव रखने को औदार्य कहते हैं ।

लीलाः- मधुर चेष्टाओं तथा वेषादि से प्रियतम के अनुकरण को लीला कहते हैं ।

विलासः- प्रियतम के दर्शन से स्थान, आसन, मुख और नेत्रादि क्रियाओं की विशेषताओं को विलास कहते हैं ।

ललितः- अंगों की सुकुमारता, स्निग्धता, चांचल्य इत्यादि को ललित कहते हैं।

किलकिंचितः- शोक, रोदन और क्रोध आदि के सांकर्य को किलकिंचित कहते हैं ।

विभ्रमः- प्रियतम के आगमनादि के कारण हर्षवश नायिका द्वारा शृंगार करना मूलवस्त्रादि को विपरीत क्रम से धारण करने को विभ्रम कहते हैं।

कुट्टमितः- केवल दिखावट के लिए जो नायिका के द्वारा निषेध किया जाता है, वह कुट्टमित है ।

मोट्टायितः- प्रियतम को चित्रादि में देखने पर उसे वस्तुतः अंग आदि तोड़ना, अंगड़ाई लेना, पसीना आना, अथवा प्रियतम के स्मरण करने पर उक्त चेष्टाओं के होने को मोट्टायित कहते हैं ।

बिब्बोकः- गर्व के आवेश या प्रेम की जाँच के लिए या दीप्ति के लिए नायिका के द्वारा किए गए नायक के अपमान को बिब्बोक कहते हैं ।

विच्छित्तिः- आवश्यकता पड़ने पर थोड़े ही आभूषणों से सन्तोषजनक कार्य हो जाए, तो उसे विच्छित्ति कहते हैं ।

व्याहृतः- अत्यन्त आवश्यक और कहने योग्य बात भी जब लज्जा की अधिकता के कारण नहीं कही जाए तो उसे व्याहृत कहते हैं ।

अजितसेन द्वारा वर्णित उक्त 20 अलंकारों को आचार्य धनञ्जय, विश्वनाथ तथा अमृतानन्दयोगी ने भी सादर स्वीकार किया है ।[1]

---

1. (क) द0रू0, 2/30, 31, 32

(ख) सा0द0, 3/89, 90, 91

(ग) अ0सं0, 4/41, 42, 43 (पी0 कृष्णभाचार्य और पं0 के0 रामचन्द्र शर्मा)

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में अलंकार चिन्तामणि में निरूपित सर्वांगीण विषयों के समीक्षात्मक अध्ययन से विदित होता है कि आचार्य अजितसेन नाट्यशास्त्रीय विषयों को छोड़कर काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का प्रायः निरूपण किया है । इनकी निरूपण शैली अत्यन्त सरल सुबोध मार्मिक तथा संक्षिप्त होते हुए भी काव्य शास्त्र के विषयों को पूर्ण रूप से प्रतिपादन करने में समर्थ है । इस ग्रन्थ में काव्य स्वरूप, काव्य हेतु तथा काव्य प्रयोजन के अतिरिक्त रस, अलंकार, गुण, दोष, रीति, वृत्ति तथा नायक और नायिकाओं के स्वरूप को भी प्रतिपादन किया गया है । यहाँ तक कि कवि समय तथा समस्या पूर्ति जैसे विषयों पर भी अजितसेन ने विचार किया है । प्रत्येक विषयों के लक्षण इनके द्वारा स्वयं निर्मित हैं किन्तु लक्ष्य रूप में निबद्ध उदाहरणों को प्राचीन पुराण ग्रन्थों, सुभाषित ग्रन्थों तथा स्तोत्रों से उद्धृत किया है -

अत्रोदाहरणं पूर्वपुराणादिसुभाषितम् ।
पुण्यपूरुषसंस्तोत्रपरं स्तोत्रमिदं ततः ।।   अ0चि0, 1/5

इनके ग्रन्थ पर भामह, दण्डी, भोज, मम्मट तथा वाग्भट का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । कतिपय दोषों पर भामह का स्पष्ट प्रभाव है । उपमा के भेद निरूपण के सन्दर्भ में दण्डी द्वारा निरूपित उपमा क्रम से भेदों का निरूपण किया है । इन्होंने भोज द्वारा निरूपित 24 गुणों का भी उल्लेख किया है जिनपर भोज का स्पष्ट प्रभाव है । दोष निरूपण के सन्दर्भ में आचार्य मम्मट का स्पष्ट प्रभाव है । काव्य के भाषागत भेदों को आचार्य वाग्भट से अक्षरशः संग्रहीत भी कर लिया ।[1]

नायिका के भेदादि के विवेचन पर नाट्यशास्त्र तथा दशरूपक का प्रभाव है । किन्तु इन्होंने वाग्भट के कतिपय पद्यों के अतिरिक्त अन्य किसी

---

1. संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशों भूत भषितम् ।
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ।।
संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशात्रेषु निश्चिता ।
प्राकृतं तज्जतत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा ।।
अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भषितम् ।
यदभूतैरूच्यते किंचित्तद्भौतिकमिति स्मृतम् ।।
अ0चि0, 2/119, 20, 21 तुलनीय - वाग्भटालंकार 2/1-4

आचार्य के लक्षण को पूर्णतया उद्धृत नहीं किया । इनके लक्षणों में नवीनता का आधान भी हुआ है ।

अजितसेन द्वारा निरूपित अलंकारों में भी वैदुष्य का परिचय प्राप्त होता है । परवर्ती काल में आचार्य विद्यानाथ कृत अलंकार निरूपण पर अजितसेन का स्पष्ट प्रभाव है । आचार्य अजितसेन द्वारा निरूपित उपमालंकार को तो विद्यानाथ ने अक्षरशः उद्धृत कर दिया है ।[1] जिसका खण्डन अप्पयदीक्षित ने चित्रमीमांसा में किया है ।[2] किसी आचार्य के लक्षण को विविध ग्रन्थों में उद्धृत कर उसकी विवेचना प्रस्तुत करना कवि के वैदुष्य और गौरव का ही परिचायक होता है ।

आचार्य अजितसेन ने वक्रोक्ति का निरूपण दो बार किया है[3] प्रथम शब्दालंकारों के अन्तर्गत तथा द्वितीय बार अर्थालंकारों के अन्तर्गत जबकि इनके पूर्व किसी भी आचार्य ने ऐसा नहीं किया । इन्होंने चित्रालंकार का सर्वाधिक विवेचन किया है अलंकार चिन्तामणि में लगभग 48 भेदों के लक्षण व उदाहरण दिए गए हैं । यद्यपि चित्र काव्य का निरूपण आचार्य रुद्रट ने भी किया था लेकिन इनका विवेचन विशिष्ट है ।

दोष निरूपण के सन्दर्भ में जिस प्रकार से इन्होंने कतिपय दोषों की अदोषता का उल्लेख किया है उसी प्रकार से गुण निरूपण के सन्दर्भ में कतिपय गुणों के दोषाभाव पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं ।

शोध प्रबन्ध का विवेचन प्रायः ऐतिहासिक अनुक्रम से आदान-प्रदान की दृष्टि से किया गया है । अनुसन्धान के समय यह ध्यान दिया गया है कि प्रायः अनुसन्धात्री की अनुसन्धात्मक प्रवृत्ति का ही प्राधान्य रहे । मेरा विश्वास है कि अलंकार चिन्तामणि का यह समीक्षात्मक विवेचन अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में उपादेय हो सकेगा ।

---

1. वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वतः सिद्धेन धर्मतः ।
   भिन्नेन सूर्यभीष्टेन वाच्यं यत्रोपमैकदा ।। अ0चि0, 4/18
   तुलनीय
   स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः ।
   साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ।। प्रताप0, अर्थालंकार प्रकरण पृ0-414
2. चित्रमीमांसा, पृ0 42, व्याख्याकार - श्री जगदीशचन्द्र मिश्र
3. अ0चि0, 3/1 तथा 4/170

अलङ्कारसर्वस्व - सञ्जीवनी टीका, डा0 रामचन्द्र द्विवेदी - मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली - वाराणसी, पटना 1965

अलंकार चिन्तामणि - डा0 नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नयी दिल्ली 1944

अलंकार संग्रह - अमृतानन्द योगीकृत, पं0 वी0 कृष्णाचार्य, पं0 के रामचन्द्र शर्मा, 1949

अलंकारो का ऐतिहासिक विकास - डा0 राजवंश सहाय " हीरा ", बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

अलंकार सम्प्रदाय के विकास में आचार्य वाग्भट का योगदान - डा0 धर्मराज सिंह

अग्निपुराण - श्री बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा संवृत सीरीज वाराणसी 1966

अलंकार मीमांसा - डा0 रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास - दिल्ली 1965

अलंकारशेखर - केशवमिश्र, जयकृष्णदास, हरिदास संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी 1927

अलंकार रत्नाकर का आलोचनात्मक अध्ययन - डा0 सोम प्रकाश पाण्डेय,

काव्य प्रकाश - बालबोधिनी टीका, भटटवामनाचार्य (झलकीकर) कृत, भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिरम् पुणे 1983

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - वामन, पं0 केदार नाथ शर्मा, चोखम्भा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी 1977

काव्यमीमांसा - पं0 श्रुवदेवशास्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद - पटना

काव्यालंकारसार संग्रह एवं लघु वृत्ति की व्याख्या, डा0 राममूर्ति त्रिपाठी हिन्दी साहित्य सम्मेलन

काव्यादर्श - दण्डी, चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी 1972

काव्यालंकारकारिका - सनातन कवि, रेवा प्रसाद द्विवेदी चाखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी 1977

काव्यालंकार - भामह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना 1962

काव्यालंकार - रूद्रट, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी 1966

कुवलयानन्द - अप्पयदीक्षित, डा0 भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी 1956

19. चन्द्रालोक - जयदेव, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी

20. चित्रमीमांसा - श्रीधरानन्द शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी 1971

21. नाट्यशास्त्र - भरतमुनि, निर्णय सागर मंत्रालय वाराणसी 1943

22. नलचम्पू - " सुधा " टीका, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन

23. प्रतापरुद्रीयम - विद्यानाथ, रत्नापण बाल टीका, कृष्णदास अकादमी वाराणसी 1981

24. पातञ्जलयोगसूत्रम् - भोजदेव भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली वाराणसी 1979

25. रसगंगाधर - पं0 राजजगन्नाथ, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी 1969

26. वक्रोक्ति जीवितम् - कुन्तक, श्री रोधेश्याम मिश्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

27. वाग्भटालंकार - डा0 सत्यव्रत सिंह, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी

28. साहित्य दर्पण - विश्वनाथ, डा0 सत्यव्रत सिंह, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी 1973

29. सरस्वती काण्ठाभरण - भोजदेव चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी 1987

30. संस्कृत साहित्य का इतिहास - द्वितीय भाग, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार स्मारक ग्रन्थमाला समिति, नवलगढ़ 1938

31. संस्कृत रूपकोंके नायक - डा0 राजदेव मिश्र, घनश्यामदास एण्ड सन्स चौक फैजाबाद

32 संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास - पी0वी0 काणे, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पटना, वाराणसी 1966

33. बौद्धालंकार शास्त्रम् - डा0 ब्रहममित्र अवस्थी, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली - 1973

34. दशरूपक - डा0 श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार मेरठ षष्ठ संस्करण 1986

35. महाकवि भारवि एवं माघ - डा0 शिवाकान्त शुक्ल, शारदा प्रकाशन फैजाबाद 1992

36. ध्वन्यालोक - डा0 रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1963

37. अलंकार मञ्जूषा - भट्टदेवशंकर पुरोहित, ओरियन्टल मैन्युस्क्रिप्ट्सलाईब्रेरी 1940

सकेत ग्रन्थ सूची

अ० म०		
अ० स०	-	अलंकार सर्वस्व
अ० चि०	-	अलंकार चिन्तामणि
अ० सं०	-	अलंकार संग्रह
अ० पु०	-	अग्नि पुराण
अ० मी०	-	अलंकार मीमांसा
अ० शे०	-	अलंकार शेखर
का० प्र०	-	काव्य प्रकाश
का० लं०सू०	-	काव्यालंकार सूत्रम्
का० मी०	-	काव्य मीमांसा
का०लं०सा०सं०	-	काव्यालंकार सारसंग्रह
का० लं०	-	काव्यालंकार
कुव०	-	कुवलयानन्द
चन्द्रा०	-	चन्द्रालोक
चि० मी०	-	चित्रमीमांसा
ध्वन्या	-	ध्वन्यालोक
ना० शा०	-	नाट्यशास्त्र
न० च०	-	नलचम्पू
प्रताप०	-	प्रतापरुद्रीयम्
बौ०लं०शा०	-	बौद्धालंकारशास्त्रम्
पा०यो०सू०	-	पातञ्जलयोगसूत्रम्
र० गं०	-	रसगंगाधर
वाग्भ०	-	वाग्भटालंकार
बा० बो०	-	बालबोधिनी
व० जी०	-	वक्रोक्ति जीवितम्
सा० द०	-	साहित्य दर्पण
स० क०भ०		सरस्वतीकण्ठाभरण
सं० सा०इति०	-	संस्कृत साहित्य का इतिहास
सं०का०शा०इति०	-	संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास